पूँजीवाद की पोल

लेखक

प्रोफेसर रंजन, एम० ए०

प्रकाशक

अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल

(अशोक राजपथ)

पटना—६

मूल्य १।)

विषय	पृष्ठ

वनस्थली-विद्यापीठ

के

उन प्राणमय दिनों की याद में

भूमिका

आज हित-अनहित का ज्ञान जिसमें साधारण जनता को भी है, ऐसे साधनों की बड़ी आवश्यकता है। ऐसे साधन भाषण द्वारा भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं, लेखन द्वारा भी। किन्तु साधारण जनता के लिये तैयार किये जानेवाले साहित्य, पुस्तकों का सरल, स्पष्ट सुबोध होना जरूरी है। रंजनजी की यह छोटी पुस्तक बहुत हद तक इन गुणों को रखती है। यह संक्षिप्त है और सुबोध भी। आँकड़े दिये गये हैं; किन्तु उन्हें बोझिल होने से बचाया गया है। कितने ही लेखक ग्रंथ लिखते समय अपनी ही विचार-शृंखलाओं और पंक्तियों में उलझ जाते हैं। रंजनजी के विचार सुलझे और स्पष्ट हैं। पुस्तक के शास्त्रीय होने के लिये उसमें दुरूहता होनी अनिवार्य समझी जाती है; किन्तु रंजनजी की पुस्तिका अशास्त्रीय न होते भी दुरूह नहीं है।

आज हमारी सारी समस्याएँ, आज हल न कर कल पर छोड़ी जा रही हैं—कल के लिये नहीं, अनिश्चित काल के लिये छोड़ी जा रही हैं; किन्तु वह इतने समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकती। आज के शासक-समाज को रोटी, कपड़े की समस्या, घर और जीवन-साधन की समस्या को हल करना है, नहीं तो वह अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख सकता। यह निश्चित है कि यह समस्याएँ समाजवाद

से ही हल हो सकती हैं और शासक-वर्ग में कितने तो समाजवाद के नाम से घबड़ाते हैं, और कुछ समाजवाद का नाम लेकर उसे पास फटकने देना नहीं चाहते। दोनों ही उत्पीड़ित जनगण को भूल-भुलैया में रखना चाहते हैं। किन्तु बहुजन का जीवन-क्षोभ भावुकता पर निर्भर नहीं है कि उसे चिरकाल के लिये भूल-भुलैया में डाला जा सके। बहुजन की आँखें खोलने के लिये इस तरह की पुस्तकों की बहुत आवश्यकता है। हमें रंजनजी की लेखनी से बहुत आशा है, वह निर्भीक हो निरंतर अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ रहेगी।

प्रयाग
६-१-४६

—राहुल सांकृत्यायन

दो शब्द

१५ अगस्त सन् ४७ के बाद देश ने एक नये युग में प्रवेश किया। जीवन और उत्साह की लहर से देश का कोना-कोना व्याप्त हो गया। विश्वास था, एक नई जिन्दगी, एक नया दौर शुरू होगा। निर्धनता और गरीबी के स्थान पर सुख और समृद्धि का राज्य होगा। सरकार तत्वतः अपनी होगी। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समानता की भीत्ति पर एक नये राष्ट्र का उदय होगा। जीवन बदलेगा। पुरानी व्यवस्थाएँ बदलेंगी। नई रोशनी और नई उम्मीद को मन में भरकर आज का नागरिक आगे बढ़ेगा। काश! ऐसा होता। आजादी की वर्षगांठ भी आयी। सरकारी तौर पर उत्सवों के आयोजन भी हुए। पर इन सब के बावजूद भी जब देश के लाखों गांवों की ओर निगाह जाती है, शहरों के गन्दे मार्गों में पड़े हुए दलितों और मजदूरों की ओर ध्यान जाता है, तो मन में एक प्रश्न उठ खड़ा होता है—क्या यही स्वराज्य का नकशा है? क्या यही बापू का वह रामराज्य है? सवाल सभी के सामने है, पर उसका जवाब अलग-अलग मिलता है। जो भी हो, अपना तो यह निश्चित मत है कि आज जो हालत है, वही हालत स्वराज्य के १० वर्ष बाद भी दिखाई देगी। क्योंकि वर्तमान

समस्याओं का हल जो हमारे नेता बतलाते हैं, वह या तो बिल्कुल गलत है या उसमें किसी एक वर्ग-विशेष के समझौते की बू आती है।

जब तक स्थिर सिद्धान्तों और पुरानी व्यवस्था के प्रति अपने मन के जमे हुए मोह को हम निकाल नहीं फेंकते तब तक प्रश्न जहाँ का तहाँ कायम रहेगा। और समस्याएँ जो आज हैं, वही फिर भी रहेंगी; अत: मूल बात यह है कि समाज का आर्थिक ढाँचा बिलकुल बदले। सम्पत्ति के प्रति हमारे विचारों में परिवर्तन हो; लेकिन यह उस समय तक सम्भव नहीं जब तक राष्ट्र एक बार यह विश्वास न कर ले कि पूँजीवाद का आर्थिक ढाँचा अब पुराना हो चुका। उसके कायम रहने से हमारी प्रगति केवल रुकेगी ही नहीं, हम अकर्मण्य ही साबित न होंगे, वरन् हमें पीछे लौटना पड़ेगा और हमारे नये कार्य सामूहिक और राष्ट्रीय कल्याण के लिये घातक साबित होंगे। देश में नई जिन्दगी भरने, नई जिम्मेवारी लाने और नये नुक्ते-निगाह को पैदा करने के लिये पहले हमें पूँजीवादी व्यवस्था से टक्कर लेना पड़ेगा। जब तक देश के भीतर से इस सामाजिक शत्रु को निकाला नहीं जा सकता तब तक हमारे बड़े-बड़े वाइदे और स्वप्न थोथे साबित होंगे।

कांग्रेस ने प्रगतिशील नारे लगाये। मजदूर और किसानों के राज्य की घोषणा की, पर दुर्भाग्य से अमल में उतनी आगे न बढ़ पायी। अधिकांश मंत्रिमंडलों की नीति पूँजीवादी सिद्धान्तों पर कायम है। मंत्रियों के दिल और दिमाग आज इस विषय में साफ नहीं हैं। कोई पूँजीपतियों को प्रसन्न रखने के लिये १० वर्ष की औद्योगिक सुरक्षा की सनद उनके सामने पेश कर रहा है, कोई

एकतर्फा श्रम-विधानों की रचना करके पूँजीपतियों के हितों को मजबूत बना रहा है। एक ओर शासन का झुकाव उधर है, दूसरी ओर मध्यवर्ग, किसान, मजदूर और नौकरीपेशा लोग महँगाई, कालेबाजार की चक्की में पिसे जा रहे हैं। राहत नजर नहीं आती। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्ता और पूँजीवाद का गठबंधन हो गया है। दोनों एक दूसरे पर अपना पूरा प्रभाव रखते हैं। ऐसी अवस्था में एक ही मार्ग बच रहता है—जन-शिक्षण द्वारा जनमत को इस योग्य बनाया जाय कि वह 'पूँजीवाद' के विषैले प्रभाव को भली प्रकार समझे और समझकर यह निश्चय करे कि अब जिन लोगों के हाथों में उसे सत्ता सौंपनी है, वे उसके विचारों और मान्यताओं में विश्वास रखनेवाले लोग होंगे। जनता को यह भली प्रकार मान लेना चाहिये कि मर्ज बहुत बढ़ गया है। मरहम-पट्टी से काम चलने का नहीं। अब तो समाज के शरीर में नश्तर लगाना पड़ेगा और इसके लिये योग्य सामाजिक डाक्टर चाहिये, जो अपने विज्ञान के माहिर हों, साथ ही-साथ जिन्हें राष्ट्र का विश्वास प्राप्त हो। यह सब तभी सम्भव है जब देश का प्रत्येक नागरिक फैली हुई बीमारी के गुण-दोषों को पहचाने, उसे समझे। यह पुस्तक इसी दिशा में एक मामूली प्रयत्न है। सभ्यता के जन्म से आज तक कैसे-कैसे 'पूँजीवाद' हमारे बीच में आया! किस प्रकार समाज के शरीर को इसने अपनी भयंकर विषमता से दुर्बल और रोगी बनाया! और किन कारणों से पूँजीवाद स्वयं अपनी 'कब्र' खोदने की तैयारी कर रहा है! आदि-आदि पक्षों पर संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

मार्क्सवादी-साहित्य के महासागर में इस पुस्तक का अपना कौन स्थान है! समाजवादी विज्ञान पर यह प्रकाश भी कहाँ तक डाल सकती है! इसका तो अपना एक अलग क्षेत्र है। जो इस विज्ञान के पंडित नहीं हैं, श्रेष्ठ और महत रचनाओं को पढ़ सकने का जिन्हें अवकाश भी नहीं, ऐसे साथियों के लिये प्रारम्भिक सहायता के रूप में यह पुस्तक शायद उपयोगी हो सके। इसकी अपनी यहीं तक पहुँच है और यदि इसी अकिंचन उद्देश्य में यह पुस्तक सफल हो सकी तो बहुत है। शेष इसकी अच्छाई-बुराई को देखने का अधिकार पाठकों का है।

—रंजन

आर्थिक संगठन क्यों ?

१

मानव ने घर, फिर परिवार और तब समाज की रचना की। उसकी प्रगति की यह सामाजिक सीढ़ियाँ हैं जिनपर से चढ़ते-चढ़ते उसे 'विश्व-समाज' के मन्दिर तक पहुँचना है। इस प्रगति में समाज की आर्थिक रचना का, उसकी माली हालत का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। आज के युग में साधु-संत और राजनीतिज्ञ तक इसके मजबूत असर का अनुभव करते हैं। जीवन की प्रत्येक दिशा इसके बिना अधूरी है। इसीलिये विचारक और राजनीतिज्ञ, दोनों आज इस बात में एक मत हैं कि समाज या राष्ट्र की उन्नति का सबसे पहला और सबसे बड़ा साधन है—'आर्थिक सुव्यवस्था'। जिस सीमा और जहाँ तक हम अपने जीवन में इस 'सुव्यवस्था' को स्थान दे सकेंगे, वहीं तक हमारे दुख-दर्द और अभाव कम हो सकते हैं। इस व्यवस्था में अनुकूल संयम बनाये रखने और विषमता को अधिक न बढ़ने देने के लिये ही मानव ने समाज की रचना की थी। समाज मानव की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति पर एक मंगलमय अंकुश का काम करता है।

हम सभी यह जानते हैं कि आगे बढ़ने और सुखपूर्वक

जिन्दा रहने के लिये हमें बहुत-सी वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से कुछ वस्तुएँ स्वयं प्रकृति ने बड़ी उदारता से हमें दे रखी हैं, जिनका उपभोग, बिना किसी को तकलीफ पहुँचाये, व्यक्ति मन भर कर सकता है—हवा, पानी, रोशनी ऐसी ही वस्तुएँ हैं। इन्हें हम जीवन की निःशुल्क वस्तुएँ कह सकते हैं। लेकिन इनके अलावा हमें कुछ ऐसी वस्तुओं या पदार्थों की भी दरकार होती है जिनके पैदा करने में शारीरिक मेहनत और कुछ अन्य साधनों की जरूरत पड़ती है—गेहूँ, दूध, कपड़े, पुस्तकें तथा अन्य वैज्ञानिक सुविधाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। इन्हें हम सम्पत्ति या आर्थिक वस्तुओं की संज्ञा दे सकते हैं। हमारी सभ्यता के विकास के साथ-साथ इन वस्तुओं (Goods) या सामानों की संख्या भी बढ़ती चली जा रही है। जिस समाज में जितने अधिक लोगों के पास ये सामान जितनी अधिक मात्रा में होंगे, वह समाज उतना ही अधिक सुखी और सम्पन्न होगा। आज हमारे देश में इन साधनों का, इन वस्तुओं का अभाव है। बहुत कम लोग ऐसे हैं, जिनके पास आगे बढ़ने और जीने के ये सामान मुहैया हैं। इसलिये किसी देश की आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करते समय यह देखना जरूरी है कि उस समाज में किस सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी आर्थिक वस्तुओं (Economic Goods) तक पहुँच है जिनकी उसे अपनी प्रगति और निर्वाह के लिये जरूरत है। इन वस्तुओं या उपकरणों की आवश्यकता

उसे इसलिये है कि बिना इनके पाये वह पूरे तौर से अपना मानसिक और शारीरिक विकास नहीं कर सकता। मानव की पूर्ण प्रगति समाज का अन्तिम लक्ष्य है और ये वस्तुएँ या सामान उसके साधन।

अब प्रश्न उठता है कि क्या मौजूदा हालत में देश के अधिकतम नागरिक इन वस्तुओं का ज्यादा-से-ज्यादा मात्रा में उपभोग कर सकते हैं या करते हैं? अगर नहीं, तो फिर इस नहीं का कारण कहाँ है? क्या मौजूदा व्यवस्था के कायम रहते कभी यह सम्भव है कि हम अधिक-से-अधिक लोगों के पास इन सुविधाओं को पहुँचा दें या इन्हें प्राप्त कर सकने की उनकी क्षमता को बढ़ा दें? चाहे जिस तरफ से आप प्रश्न उठायें, बात आखिर में यहीं आकर टूटती है—"क्या पूँजीवाद इस परीक्षा में खरा उतरता है?"

पूँजीवाद क्या है ?

२

पिछले अध्याय में हमने अपनी बात को एक प्रश्न पर लाकर छोड़ दिया। प्रश्न हमारे 'रोग' का नाम बतलाता है। समाज आज इतना जीर्ण-शीर्ण क्यों है, इस क्यों का जवाब देता है। 'निदान' रोग का पता लगाता है। यह रोग 'पूँजीवाद' है। पर रोग का इलाज करने के लिये अच्छा डाक्टर हमेशा रोग के कारणों की जाँच करता है। रोग क्या है ? उसकी क्या विशेषताएँ हैं, यह पहले जानना जरूरी है। इसलिये आगे बढ़ने से पहले हम यह समझ लें कि यह 'पूँजीवाद' है क्या ? इसकी पहचान क्या है ?

बहुत पीछे आदि-मानव की जिन्दगी को देखिये। जब वह सिर्फ अपने हाथों से अपनी रोजी के लिये कुदरत से लड़ा करता था, सब दिन मेहनत करने के बाद भी बड़ी मुश्किल से वह सिर्फ इतना पैदा कर सकता था जिससे केवल उसका किसी तरह गुजर हो सके। इसलिये मेहनत सभी को करनी पड़ती थी ; क्योंकि एक आदमी अपनी जरूरत से ज्यादा पैदा कर नहीं सकता था। उसके पास उस समय सिर्फ उसके हाथ और देह की ताकत थी; बाकी कुछ न था। उदाहरण के लिये

अगर हमें ज्वार पैदा करना है, तो पहले उसे खेत चाहिए, हवा, रोशनी और पानी चाहिए। ये सारी चीजें प्रकृति की मुफ्त देन हैं। इनका अर्थ जमीन या भूमि में आ जाता है। इसलिये जमीन की सीमा में खेत, जंगल, चरागाह, नदी, मैदान, जलवायु, सब आ जाते हैं; यानी प्रकृति के वे सारे तोहफे, जो पैदावार में हमें सहायता देते हैं। ये सारी वस्तुएँ उसे सभ्यता के आदि-युग में भी मिलती थीं। पर इनके सिवा आदमी को कुछ और वस्तुओं की भी जरूरत पड़ती है, जैसे हल, बैल, मैशीन, खाद, गाड़ी आदि। जमीन के अलावा उसे जिन वस्तुओं या आर्थिक सामान (Economic goods) की पैदावार को बढ़ाने के लिये जरूरत पड़ती है, उसे हम पूँजीकृत माल (Capital goods) कहते हैं। इसके भीतर आज मशीनरी, औजार आदि भी आते हैं।

अब सवाल उठता है कि ऊपर बताई गई दो तरह की वस्तुएँ—निःशुल्क वस्तुएँ और पूँजीकृत माल (Free goods and capital goods)—क्या उत्पादन के लिये पर्याप्त हैं? क्या सिर्फ इन दो तरह की वस्तुओं के योग से उत्पादन या पैदा-वार हो सकती है? उत्तर नकारात्मक होता है। दो बातों के साथ-साथ मानवीय श्रम या इन्सानी मेहनत और प्रयत्न की भी जरूरत है। चाहे लकड़ी का हल हो, चाहे ट्रैक्टर, उसे चलाने के लिये आदमी की जरूरत होती है। फसल पैदा करने के लिये आदमी तो चाहिये ही। और, अगर पैदावार को बड़े

पैमाने पर चालू किया जाय, तो उसकी देख-भाल के लिये भी कोई ऐसा आदमी चाहिये, जो उत्पादन की इस सारी क्रिया का संचालन, निरीक्षण और देख-भाल कर सके। मनुष्य की मेहनत—चाहे वह दिमागी हो चाहे शारीरिक—जिसकी पैदा-वार या उत्पादन में जरूरत पड़ती है—श्रम-शक्ति (Labour power) कहलाती है। इस श्रम-शक्ति की सीमा में छोटे-से-छोटा मजदूर और लेखक, शिल्पी, इंजीनियर, वैज्ञानिक, डाक्टर इत्यादि सभी आते हैं। यह सब मिलकर उत्पादन को आगे बढ़ाते हैं। इसलिये अब हम इस नतीजे पर पहुँचे कि जीवन के निर्वाह और भौतिक सुविधाओं के साधन या वस्तुओं को तैयार करने में तीन प्रकार के साधनों की जरूरत पड़ती है—(१) जमीन, (२) श्रम-शक्ति और (३) उत्पादक साधन या वस्तुएँ। इन तीनों साधनों को उत्पादन के मूल कारण कह सकते हैं। जमीन और दूसरी साधन-सामग्री को 'उत्पादन के साधन' नाम दिया जाता है।

'पूँजीवाद' समाज की वह आर्थिक व्यवस्था है, जिसके अन्दर उत्पादन के ये साधन समाज के बहुत थोड़े लोगों के हाथों में जाकर इकट्ठे हो जाते हैं। ये लोग जिन्हें स्वामित्व का सौभाग्य प्राप्त होता है, कुल आबादी का बहुत छोटा हिस्सा होते हैं। ऐसे मालिकों को, जिनके हाथ में उत्पादन के ये साधन जाकर इकट्ठे हो जाते हैं, हम 'पूँजीवादी' कहते हैं। समाज की अधिकांश जनता के हाथ में जमीन और उत्पादक

साधन नाममात्र को रह जाते हैं। शेष लोग अपनी मेहनत या श्रम को पूँजीपतियों के हाथ में बेचकर किसी प्रकार जीविका चलाते हैं। ये पूँजीपति अपनी जमीन, उत्पादक साधन और खरीदे गये श्रम के साथ अपने लिये लाभ कमाने की दृष्टि से काम करते हैं।

पूँजीवादी अर्थशास्त्री उत्पादन का एक और साधन मानते हैं। उनके विचार से जो व्यक्ति इन सारे उत्पादन का संगठन या संचालन करता है, जो हानि का खतरा मोल कर पूँजी लगाता है, वह व्यक्ति स्वयं भी उनके विचार से उत्पादन का एक साधन है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिये लाभ का भाग उसका अर्जित है, शोषित नहीं।

रूस को छोड़कर, दुनिया के सारे देशों में, पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली कायम है। जहाँ राष्ट्र की सारी सम्पत्ति समिटकर आज बहुत थोड़े लोगों के हाथों में चली गयी है। अधिकांश आबादी परिश्रम द्वारा अपना निर्वाह करती है। इन लोगों के पास चूँकि उत्पत्ति का अपना कोई जरिया नहीं है, इसलिये इन्हें मजबूरन मेहनत या मजदूरी करके अपना पेट पालना पड़ता है।

फ्रांस, इंगलैण्ड, इटली, अमेरिका और हिन्दुस्तान, सभी देशों में आर्थिक व्यवस्था की आज यही हालत है। व्यक्तिगत लाभ के लिये सारे उत्पादनों का संचालन बहुत थोड़े व्यक्तियों द्वारा हो रहा है। इन व्यक्तियों को राष्ट्र की आवश्यकता,

समय की मॉँग और समुचित वितरण का ध्यान बिल्कुल नहीं रहता। ये लोग 'लाभ-शुभ' का मंत्र रात-दिन जपा करते हैं और इनके इस 'लाभ-शुभ' के लिये देश को, समाज को और व्यक्ति को चाहे जितनी हानि उठानी पड़े, इसकी चिन्ता इन्हें नहीं होती। इस प्रकार दुनिया की दौड़ में ये 'पूँजीवादी' देश अपने ही देश के लोगों के रक्त और पेट को काटकर आगे बढ़ते हैं।

यह है संक्षेप से 'पूँजीवाद' का नकशा। यहाँ व्यक्ति का स्वार्थ समाज और राष्ट्र के ऊपर माना जाता है। और इसका रक्षण पूँजीवादी देशों में पूँजीपति को न्याय या कानून द्वारा प्राप्त होता है।

पूँजीवाद कैसे आया ?

३

अब दूसरा सवाल है कि आर्थिक रचना का यह अभिशाप कब और कैसे शुरू हुआ ? क्या मानव की उत्पत्ति के साथ ही इसका भी श्रीगणेश हुआ या सभ्यता की बहुत-सी सीढ़ियाँ चढ़ लेने के बाद किसी विशेष हालत में इस प्रथा को फलने-फूलने का मौका मिला ? इसके विकास में किन-किन सामाजिक और आर्थिक पहलुओं ने सहायता की, किस आर्थिक रचना के खंडहर के ऊपर पूँजीवाद की नींव पड़ी—इत्यादि प्रश्नों पर हम यहाँ विचार करेंगे। पूँजीवादी अर्थशास्त्री कुछ भी कहें, पर हम यह नहीं मान सकते कि मौजूदा आर्थिक रचना अनंत है। एक ऐसा जमाना था, जब न तो पूँजीवाद था और न पूँजीपति। और, इसलिये ऐसा कहना भी गलत नहीं है कि आगे चलकर पूँजीवाद रहेगा भी नहीं। हिन्दुस्तान-जैसे देशों में यह अब भी पनप रहा है, पर रूस आदि देशों में तो इसे हमेशा के लिये दफना दिया गया है। अब हमें देखना है कि मौजूदा समाज किन-किन अवस्थाओं को पार करने के बाद यहाँ पहुँचा है।

आदि-कुल-साम्यवाद

पशु से इन्सान की हालत तक पहुँचते-पहुँचते आदमी को लाखों वर्ष लगे होंगे। विकास की प्रथम अवस्था बहुत धीमी थी; इसलिये हजारों वर्षों तक इन्सान अपनी पिछड़ी हुई अवस्था में ही रहा। पाषाण-काल (Stone-Age) के बाद लौह-युग (Iron-Age) तक पहुँचते-पहुँचते उसे कितना समय लगा है ? शुरू-शुरू में इन्हीं पत्थर के टुकड़ों और लकड़ी के सहारे वह अपनी जीविका चलाता था—शिकार करके खाता था। प्रकृति पर उस समय तक उसने विजय न पायी थी; प्रकृति की ताकतों के सामने वह हार मान जाता था। अकेले वह न तो जंगली जानवरों का मुकाबला कर सकता था और न कुदरत से भिड़ सकता था; इसलिये मजबूरन उसे झुंड या समूह में रहने और काम करने के लिये विवश होना पड़ा, नहीं तो भूखों मरना पड़ता 'था—स्वयं जंगली जानवरों का शिकार बनना पड़ता। समूह और साथ में काम करने की इस प्रवृत्ति ने उत्पत्ति के साधनों (जैसे भी उन दिनों रहे हों) पर सामूहिक अधिकार या मिल्कियत की नींव डाली; इस कारण मेहनत के फल का उपभोग भी मिलकर ही होता था। सब मिलकर ही शिकार के औजार, बर्तन और भाँड़ों के मालिक होते थे। साधनों पर व्यक्तिगत मिल्कियत का चलन अभी तक लोगों को मालूम भी न था। सारे कुल (Family) के लोग ही जमीन के मालिक होते थे; क्योंकि श्रम के औज़ार इस समय तक बहुत

सीधे-सादे होते थे। इसलिये सबको मिलकर ही काम करना पड़ता था।

ऐसी हालत में मनुष्य को छोटे-छोटे झुंडों में रहना पड़ता था। इन समूहों के कुछ परिवार होते थे। इन परिवारों में कुछ घर होते थे। समाज में सामूहिक या साम्यवादी व्यवस्था वितरण और उत्पादन के क्षेत्रों में चालू थी। न व्यक्तिगत पूँजी थी और इसलिये न असमानता। भिन्न-भिन्न कबीलों में इस साम्यवाद के अलग-अलग रूप चालू थे। यह आर्थिक व्यवस्था हजारों वर्षों तक चालू रही। हमारे आजकल के पूँजीवादी अर्थशास्त्री समाजवाद के इस रूप से भयभीत होकर हमेशा आवाज लगाते हैं कि मानव और वर्तमान समाज की कल्पना बिना व्यक्तिगत पूँजी के असम्भव है। लेकिन इतिहास के पन्ने बतलाते हैं कि हजारों वर्ष तक मनुष्य बिना व्यक्तिगत पूँजी के समाज में रहा है। समाज में, बहुत बाद में व्यक्तिगत सम्पत्ति का आविर्भाव हुआ।

चूँकि इस समय समाज में व्यक्तिगत पूँजी के लिये कोई स्थान नहीं था, इसलिये दूसरे के श्रम पर जिन्दा रहनेवाला वर्ग भी समाज में पैदा नहीं हुआ था। इसलिये एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का प्रश्न ही नहीं उठता था। क्योंकि पैदावार के साधन इतनी प्रारम्भिक अवस्था में थे, इतने भद्दे थे कि उनकी मदद से जो कुछ पैदावार होती थी, वह सिर्फ एक के लिये ही काफी हो सकती थी। दूसरे के लिये अतिरिक्त

पैदावार का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसलिये समाज में शोषित और शोषक-वर्ग दोनों ही गैरहाजिर थे। लेकिन एक वक्त आया, जब यह आदि साम्यवादी समाज टूटने लगा। इसके स्थान पर एक नये प्रकार के समाज के बीज पड़ने लगे। इस प्रकार के परिवर्तन को आश्रय देनेवाले कुछ कारण थे—

(१) उत्पादक शक्तियों का विकास

मानव धीरे-धीरे अपनी उत्पादक शक्तियों को बढ़ा रहा था। प्रकृति से संघर्ष करने के अच्छे साधन भी अब उसने जुटा लिये थे। धीरे-धीरे अपने औजार और हथियारों को भी वह अच्छा कर रहा था। उसका ज्ञान भी बढ़ रहा था। यहीं पर इस आदि-मानव ने धातुओं का प्रयोग करना भी सीखा। पत्थर के हथियारों के स्थान पर धातु के औजार बनने लगे। तीर-कमान से शिकार होने लगा। लोहे के बसूले का प्रयोग चालू हो गया। जमीन जोतने की कला भी उसने सीख ली। जानवरों को पालतू करने का काम भी उसने शुरू कर दिया। साधनों का यह विकास उस समय की समाज-व्यवस्था में एक बड़ा भारी परिवर्तन ला देता है। और, इन साधनों और औजारों के सहारे आदमी पहली बार इस काबिल बना कि वह अपनी जरूरत से अधिक पैदा कर सके। अगर वह चाहे या उसे विवश किया जाय, तो वह अपने निर्वाह से अतिरिक्त दूसरों के लिये भी पैदा कर सकता था। यहीं से समाज में दो

वर्ग बनते हैं—(१) शोषित और (२) शोषक। कुछ लोगों के लिये अब यह सम्भव हो गया था कि वह अपने लिये स्वयं कुछ काम न करके दूसरे की मेहनत पर अपना निर्वाह करे। उन्होंने दूसरों को अपने लिये काम करने को मजबूर किया। इस प्रकार एक 'वर्ग-समाज' का निर्माण हुआ।

(२) श्रम-विभाजन और विनिमय

उत्पति के साधनों के अधिक विकसित होने पर एक ही काम या हुनर में निपुणता प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। किसी ने ढोर पालने का काम लिया, किसी ने खेती की ओर ध्यान लगाया और कुछ लोग बढ़ई या लुहार का काम करने लगे। कोई दस्तकारी के काम में जुट गया। इस प्रकार अब अलग-अलग कामों को अलग-अलग लोग करने लगे। जब अलग-अलग लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न चीजें तैयार की जाने लगीं, तो अपनी-अपनी जरूरत की चीजों को वे एक दूसरे से बदलने लगे। विनिमय या अदल-बदल की प्रथा चालू हो गयी। गल्लावाला किसान गल्ला देकर ढोर लेता या कोई और चीज लेता। एक दूसरे की चीज से बदला होने लगा। इस प्रकार के विनिमय (Exchange) से धन और साधनों को कुछ के हाथ में इकट्ठा होने का मौका मिला। यहीं से समाज में असमानता और भेद की बुनियाद पड़ी और इसने आदि-समाज के सामूहिक उपभोग के चलन को खत्म कर दिया।

(३) निजी पूँजी का चलन

श्रम-विभाजन के विकास के बाद निजी पूँजी का चलन शुरू हुआ। जानवरों की सहायता से कुछ लोग खेत जोतने लगे। इस प्रकार जंगलों को साफ करके अपने जोतने के लिये जमीन तैयार की जाती। इस जमीन पर जोतनेवाले का ही अधिकार होता ; पशु-पालन में भी कुछ लोगों के पास पशु इकट्ठे होने शुरू हुए। इस प्रकार काम में आनेवाले औजार भी व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गये। सारे समाज द्वारा उसपर से अधिकार हट गया। और कारणों के साथ-साथ व्यक्तिगत पूँजी के विकास ने भी आदि साम्यवादी समाज की जड़ों को काटने में सहायता की।

वर्ग-समाज

ऊपर बताई गई हालतों ने पुराने समाज को तोड़ दिया और इसके स्थान पर एक नये प्रकार के वर्ग-समाज की नींव पड़ी। इस नई व्यवस्था में कुछ लोग दूसरों की मेहनत पर जिन्दा रहने लगे। समाज का एक छोटा हिस्सा बड़े हिस्से का शोषण करने लगा। ज्यों-ज्यों यह वर्ग-समाज विकसित होता गया, शोषण के प्रकार और तरीकों में भी परिवर्तन होता गया; क्योंकि शोषण तभी तक कायम रह सकता है जब तक कि वर्ग-समाज (class society) कायम है। इस वर्ग-समाज के कुछ क्रमिक ऐतिहासिक रूप आगे दिये जाते हैं :—

(१) दास-समाज (Slave society)

इतिहास में जिस प्रकार के समाज का पहला संगठित रूप हमारे सामने आता है, उसे दास-प्रथावादी समाज कह सकते हैं। आदि-साम्यवाद के स्थान पर इस प्रकार के समाज की नींव पड़ी। ग्राम-साम्यवाद के टूटने के बाद जो लोग बलिष्ठ होते थे, वे अनायास ही पैदावार के साधनों पर कब्जा कर लेते थे और दूसरे कमजोर लोगों से अपने लिये काम लेते थे। विदेशी युद्धों में पकड़े गये सिपाहियों को भी प्रायः दास बनाकर रखा जाता था। प्राचीन रोम में तो यह प्रथा अपनी हद तक पहुँच गयी थी, जहाँ खेती आदि का सारा काम इस प्रकार के दास ही करते थे।

इस दासवादी प्रथा में मालिक सिर्फ जमीन और हथियारों का ही मालिक नहीं होता था, वरन् दासों के शरीर पर भी उसे पूरा अधिकार रहता था। दास को मारने, बेचने और मार डालने तक का कानूनी हक मालिक को रहता था। लेकिन दासों के शोषण की एक सीमा थी। उसे इतना खाना मालिक देता ही था जिससे वह अपने शरीर को चंगा रख सके, नहीं तो दास के मर जाने के साफ माने होते थे—आर्थिक हानि। दूसरी बात यह थी कि इन दासों से मालिक वे चीजें ही पैदा करवाते थे जिनकी उस रियासत के भीतर जरूरत होती थी। इनके द्वारा पैदा की गई चीजों का कभी-कभी दूसरे मालिक के

दासों द्वारा बनाई गई या पैदा की गई वस्तुओं के साथ विनिमय होता था। आवागमन के साधन सीमित थे; इसलिये उत्पादन या तैयार माल को बाहर भेजने की कोई संभावना ही न थी। इन सब कारणों से दास-शोषण एक सीमा से अधिक नहीं बढ़ पाया।

धीरे-धीरे स्टेट या राज्य की बुनियाद पड़ी और इसके मेम्बर प्रायः वे ही लोग होते थे, जो बहुत-से दासों के मालिक थे। अतः, बल और सत्ता से एक अल्प समुदाय बहुमत पर अपनी हुकूमत चलाता रहा। उस समय आतंक के साधनों का अभाव था; इसलिये मालिक अधिक गुलामों पर अपनी मिल्कियत का इजहार नहीं कर पाते थे।

हमेशा जब-जब दासों ने मिलकर कोई विद्रोह किया, तो उस समय की स्टेट, जो स्वयं मालिकों की ही होती थी, उन्हें बड़ी निष्ठुरता से कुचल देती थी जिस प्रकार आज पूँजीवादी देशों की सरकार मनमाने ढंग से आज मजदूरों को दबा देती है। लेकिन उत्पत्ति के साधनों के विकास के साथ-साथ समाज के इस रूप का भी खात्मा हो जाता है। पर इसके बाद भी शोषण की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता—सिर्फ उसकी शकल बदल जाती है।

(२) सामंतशाही समाज

जिस प्रकार आदि-साम्यवाद के युग में साधनों की उन्नति हुई, और इस उन्नति ने एक नई समाज-व्यवस्था को जन्म दिया

उसी प्रकार दास-काल में उत्पत्ति के साधन विकसित हुए और अन्त में इनके भीतर से 'सामंतवाद' का रूप प्रकट हुआ। यहाँ तक आते-आते अच्छे हल, करघा, गोपालन और दस्तकारी का विकास हो चुका था। साधन अधिक सम्पन्न हो गये थे। इसलिये अब यह आशा की जाती थी कि मजदूर पहले की अपेक्षा अधिक होशियार हों। अतः दास-प्रथा का स्थान बन्धक जोता (सर्फ) ने लिया। इस नई समाज-व्यवस्था के अन्दर सामंतों ने राज्य की सहायता से जमीन पर अपना प्रभुत्व कायम कर रखा था। और जमीन ही उन दिनों उत्पत्ति का प्रधान साधन थी। लेकिन यह भूमि न तो गुलाम जोतते थे और न मजदूर। यह जमीन स्थाई रूप से कुछ किसानों या बन्धकों को दे दी जाती थी। इस जोते के पास अपना हल, बैल और गाड़ी इत्यादि रहती थी। यह जोता स्वयं खेत पर सारी मेहनत करता और जमीन के बदले में पैदावार का एक निश्चित भाग जमीन के मालिक सामंत को देता था। कहीं-कहीं जमीन का कुछ भाग सामंत बंधक किसान को दे देता था। इसके बदले में किसान सामंत की जमीन पर सप्ताह में कुछ दिन काम कर देता था और शेष दिन अपने खेत में काम करता था। दोनों अवस्थाओं में पैदावार के औजार किसान के ही रहते थे और इससे जो कुछ पैदा करता था, उसका एक हिस्सा बन्धक या जोता को मिलता था।

दास के समान बन्धक जोता सामंत या लार्ड की संपत्ति

(अ) लिमिटेड कम्पनियों में लगी हुई पूँजी का विकास :—

संख्या	सन् १४-१५	संख्या	सन् १६३८-३६
२५४५	लागत पूँजी		लागत पूँजी
	८०·७८ करोड़	११११४	२६०·३ करोड़

इस प्रकार रेल और नहरों के विभाग में सरकार ने धनपतियों से उधार लेकर बहुत-सी पूँजी लगायी है। और, आज इन सारे व्यवसायों में अनाप-शनाप पूँजी लगाई जा चुकी है।

(ब) बड़े पैमाने पर संगठित उद्योग-धन्धों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या में वृद्धि :—

आज से ८० वर्ष पहले देश में कारखानी मजदूरों का नाम तक न था। लेकिन १६३५ से कल-कारखाने में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या का रोजाना औसत २५ लाख तक पहुँच गया है।

(स) खेतिहर मजदूर के अलावा मजदूरी पर काम करनेवाले मजदूरों की संख्या :—

१६३२ में जो मताधिकार कमेटी बैठी थी, उसकी रिपोर्ट के अनुसार उस समय तक खेती के बाहर २५० लाख मजदूर काम करते थे। और आज तो सारा व्यवसाय इन्हीं पूँजीपतियों के हाथ में ही है! बैंक सारे-के-सारे इन्हीं के कब्जे में हैं। कुल मिलाकर सन् १६३१ में खेतों और कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या ५६५ लाख थी, जब कि

को भी बढ़ा दिया था। विनिमय के अभाव में सामंत अभी तक उतना ही पैदा करवाता था जितना कि उसे अपने परिवार के लिये जरूरी था। पर अब धीरे-धीरे पैदावार बाहर जाने लगी थी। यूरोपीय देश दुनिया में अपने उपनिवेश बसाने में जुट गये थे। वास्को-डि-गामा आदि साहसिक दुनिया के कुछ अज्ञात देशों का पता लगा चुके थे। इन देशों की खोज ने वस्तुओं के भाग्य को बढ़ा दिया था। विनिमय की बड़ी तेज रफ्तार हो गयी थी। सौदागर बाहर से वस्तुएँ ला-लाकर सामंतों को देते और सामंत इसके बदले में अपने बन्धकों द्वारा पैदा की गई खाद्य आदि वस्तुएँ देता था। इस प्रकार सामंत का लोभ बढ़ा। नतीजा यह हुआ कि बन्धकों का शोषण अब पहले से अधिक होने लगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन्हीं कारणों से यह (सर्फ) बन्धक-प्रथा अधिक शोषण का एक जरिया बन गयी।

बन्धक के शोषण ने उसके और सामंत के बीच संघर्ष के बीज बोना शुरू कर दिये। फ्रांस, इटली, जर्मनी, इङ्गलैण्ड आदि देशों में किसान बन्धकों ने सामंतों के विरुद्ध बहुत-से विद्रोह किये। प्रायः इन विद्रोहों को सामंत सरकार की मदद से बड़ी बर्बरता से कुचल देते थे। पर यहीं सामंतवादी प्रथा की गोद में, अज्ञात रूप से एक नई 'आर्थिक व्यवस्था' का बीजारोपण हो रहा था। और, यहीं से समाज में एक नया 'धनिकों का वर्ग' अस्तित्व में आ रहा था। इस नये वर्ग ने सामंत

और किसानों के आपसी विद्रोह से लाभ उठाया और इस प्रकार सामंतशाही को खत्म करके 'पूँजीवादी' व्यवस्था की नींव डाली।

(३) पूँजीवादी समाज

जब उत्पादक शक्तियाँ पूरे तौर से विकसित हो गयीं, तो सामंतवादी समाज का ढाँचा खत्म हो गया और इस सामंतवादी समाज की राख के ऊपर पूँजीवादी समाज की नई तामीर होना शुरू हुआ। पूँजीवाद अपने पूर्ण प्रभाव को कैसे पहुँचा, यह समझने के लिये 'विनिमय के इतिहास' को संक्षेप में समझना होगा।

इस विनिमय या बदल-प्रथा का आरम्भ समाज में बहुत पहले हो चुका था, और सच तो यह है कि आदि-संघ-समाज में ही इसका चलन चल गया था। क्योंकि विनिमय के पीछे 'शुभ-विभाजन'(Division of labour) का सिद्धान्त काम करता है। जब से समाज ने काम के बटवारे के हिसाब से अलग-अलग काम चुन लिये तब से जीवन को चलाने के लिये विनिमय-प्रणाली अनिवार्य हो गयी। लोग अपनी फालतू पैदावार को दूसरी जरूरी चीजों से बदलने लगे। फिर संघ या कम्यून में भी इसका प्रवेश हुआ और संघ को खत्म करने में इसका बड़ा हिस्सा रहा। इससे पेशेवर लोगों के अलग-अलग उपकूल बन गये। धन और पैसे की मान्यता स्थिर हुई। लेकिन

यहाँ तक प्राय: प्रत्येक परिवार अपनी जरूरत की सारी चीजें पैदा कर लेता था। बहुत थोड़ी चीजें उन्हें बाहर से लेनी पड़ती थीं। इसके बदले में यह परिवार अपनी अतिरिक्त पैदावार देते थे। पर इस अवस्था तक स्वाभाविक उत्पादन (Natural production) यानी अपने लिये पैदा करना ही समाज का नियम था। पण्य-उत्पादन (Commodity Production), यानी बाजार में सिर्फ बेचने या विनिमय के लिये वस्तुएँ पैदा करना अभी तक केवल अपवाद-रूप से ही होता था।

दासवादी समाज और सामंतवादी समाज में स्वाभाविक उत्पादन ही आर्थिक जीवन का प्रधान अंग था। लेकिन दस्तकारी की उन्नति होने पर वस्तु या पण्य-उत्पादन में अन्तर पड़ा। किसान प्राय: अपनी आवश्यकता की चीजें ही तैयार करता था ; पर कारीगर और दस्तकार ऐसी ही वस्तुएँ तैयार करते थे जिन्हें बाजार में बेचा जा सके। कारीगरों का यह वर्ग सिर्फ विक्रय या विनिमय के लिये चीजें तैयार करता था। अतः, हम देखते हैं कि समाज के विकास में विनिमय के विकास और पण्य या वस्तु-उत्पादन का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। अभी तक 'साधारण वस्तु-उत्पादन' (Simple Commodity Production) यानी विक्रय के लिये उत्पादन, लेकिन बिना मजदूरी-प्रथा के, समाज का चालू नियम था। पण्य-उत्पादन के क्षेत्र तक में 'श्रम-शोषण' का श्रीगणेश नहीं हुआ था। अर्थात् एक विशेष हुनर के माहिर लोग बहुत-

सी वस्तुएँ बनाते, पर इस तैयार करने की क्रिया में वे पैसे देकर किसी से काम नहीं लेते थे। समाज में आज तक पैसा देकर काम लेने की प्रथा अभी चालू नहीं हुई थी।

आगे चलकर विनिमय के और अधिक विकास ने साधारण वस्तु-उत्पादन की प्रथा को बड़ा धक्का पहुँचाया और यहीं से समाज पूँजीवादी उत्पादन (Capitalist-Production) की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगा। किसी हद तक थोड़े वस्तु-उत्पादन का स्थान (Small-scale Production) समूह-उत्पादन (Mass production) ने ले लिया था। पूँजीवाद के इस क्रमिक-विकास में पहले-पहल सूद द्वारा अर्जित पूँजी और फिर व्यावसायिक पूँजी (Merchant's capital) का नम्बर आता है। व्यवसाय के बढ़ने के साथ व्याज पर रुपये उधार देने का रिवाज भी बढ़ा। बड़े-बड़े सामंतों, राजाओं और सरकारों को रुपये की जरूरत पड़ने लगी। विलासी जीवन ने उनकी आवश्यकताओं को बढ़ा दिया और पारस्परिक युद्ध और झगड़ों में उन्होंने पैसे को पानी की तरह बहाया। यह सारा रुपया बनियों या सूदखोरों से व्याज पर लिया जाता था। इससे समाज में सूद पर रुपया देनेवाले लोगों की बहुत जरूरत बढ़ गयी। बहुत ऊँची दर पर रुपया उधार देने की प्रथा ने कुछ लोगों के हाथ में पूँजी को इकट्ठा होने का मौका दिया।

व्यावसायिक पूँजी के लिये पहले-पहल रोजगार का ही

क्षेत्र था। बन्धकों और दस्तकारों द्वारा पैदा और तैयार की गयी चीजों में ही यह रोजगार चलता था। यह सारा सामान बड़ी मुश्किल से स्थानीय बाजार के लिये ही काफी हो पाता था। जब रोजगार ने अपने हाथ-पैर विदेश में फैलाये, तो एक साथ बहुत-सा माल तैयार करने की जरूरत महसूस हुई; इससे थोड़े वस्तु-उत्पादन के स्थान पर पूँजीवादी उत्पादन ने अपना अड्डा जमाया। सूद और व्यावसायिक पूँजी को अब औद्योगिक विकास में लगाया जाने लगा। औद्योगिक क्षेत्र में बड़े-बड़े कल-कारखाने आदि सामने आये। इनके मालिक एक या कुछ लोग होते थे। हजारों आदमी सिर्फ मजदूरी पर इनमें काम करने लगे। यही हालत खेती की भी हुई। अब छोटे-छोटे किसानों के स्थान पर बड़े-बड़े भूमिपति खेती के मालिक बन गये। इनके खेतों पर भी मजदूरी से काम करनेवाले खेतिहर काम करते थे। इसी बीच में मशीन और बिजली के आविष्कार ने समूह-उत्पादन को सरल बना दिया। ऐसी अवस्था में समाज में एक नया वर्ग—सर्वहारा लोगों का सामने आया, जो स्वयं अपने लिये काम नहीं करता था और जिसके पास उत्पादन का कोई साधन भी न था। यह वर्ग सिर्फ अपनी मेहनत को बेचकरअपनी रोजी चलाने लगा। यह सर्वहारा वर्ग प्रधानतया दो क्षेत्रों से आया :—

(१) बरबाद-दस्तकार

(२) बरबाद-किसान

पूँजीवादी उत्पादन ज्यों-ज्यों बढ़ा, सामंतवादी उत्पादन त्यों-त्यों खत्म होता गया। क्योंकि कल-कारखाने आदि का चलना उस समय तक संभव नहीं जिस समय तक उसमें काम करनेवाले हजारों स्वतंत्र मजदूर (Independent labourers) न मिलें। ये सब मजदूर आयें कहाँ से? सामंतों के खेत और कारीगर-संगठन (gilds) ही ऐसे स्थान थे, जहाँ से हजारों की संख्या में मजदूर आ सकते थे। इसलिये पूँजीवादी वर्ग ने सामंतवादी वर्ग के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। इस संघर्ष में पीड़ित और असंतुष्ट बन्धकों और छोटे दस्तकारों ने पूँजीवादी वर्ग का साथ दिया।

एक और कारण था जिसके सामने सामंतशाही टिक न सकी। नये उत्पादक साधनों को चतुर होशियार काम करने-वालों की जरूरत थी। इसके लिये जरूरी था कि ऐसे जानकार काम करनेवाले मिलें, जो मशीन पर अच्छी तरह काम कर सकें। इसलिये स्वतंत्र मजदूरों की जरूरत पड़ी। यही कारण है कि मध्य वर्ग ने इन बंधकों की आजादी के लिये सामंतों से उस समय तक संघर्ष किया जब तक कि बन्धकों को स्वतंत्र न करा लिया। हाँ, अब सामंतों के स्थान पर उन्हें नये तरीके से शोषण करनेवाला एक नया स्वामी मौजूद था।

यहाँ तक आते-आते हम एक ऐसी अवस्था पर पहुँचते हैं जहाँ समाज में पूँजीवाद मजबूती के साथ जड़ जमाये दिखलाई पड़ता है। लेकिन समाज का विकास, उसकी प्रगति

यहीं रुक नहीं जाती। शोषित और शोषक समाज के यह दो रूप आज भी प्रचलित रहते हैं; लेकिन शोषण के तरीके में अन्तर हो जाता है। आज भी वर्ग-संघर्ष चालू है (धनिक वर्ग और सर्वहारा में) और पहले से अधिक तेजी के साथ। उत्पादन की ताकत दिनोंदिन बढ़ रही है और शीघ्र ही उत्पादन-शक्तियों का (Power of production) उत्पादन के संबंधों (Relation of Production) से संघर्ष शुरू होता है। पूँजीवादी समाज में वैषम्य अधिकाधिक बढ़ती है। जिस पूँजीवाद ने एक समय उत्पादन को बढ़ाया था, आज वही उसके विकास में बाधक बन रहा है। अन्त में एक ऐसा समय आनेवाला है जब पूँजीवाद को अपने से कहीं अधिक श्रेष्ठ एक नई सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के लिये जगह खाली कर देनी पड़ेगी।

हमारे देश की आर्थिक रचना

४

हिन्दुस्तान में पूँजीवाद अभी तक अपने चरम विकास को नहीं पहुँचा है। इस देश के बहुत-से भागों में प्रचलित अर्थ-व्यवस्था आज भी पूर्व-पूँजीवादी युग की है। कुछ जंगली जातियों में आदि-संघ-साम्यवाद का रूप मिलेगा, हालाँकि सभ्य दुनिया के संपर्क से वह बड़ी तेजी से टूट रहा है। यहाँ दास-प्रथा को कानूनन खत्म किया जा चुका है। कृषि के क्षेत्र में पूँजीवाद ने बहुत तरक्की नहीं की है। यहाँ तो आज भी लाखों किसानों द्वारा अपने छोटे-छोटे खेत जोते-बोये जाते हैं। रियासतों को छोड़कर कुल देश में ५ करोड़ के करीब छुट-जोता हैं और इनके पास औसत जमीन ४½ एकड़ से अधिक नहीं है। इन खेतिहरों की या तो खुद जमीन है या वे उसे उगाही पर लेते हैं। परन्तु यहाँ वह जमींदार का बन्धक नहीं। इस देश में बन्धक या सर्फ-प्रथा है ही नहीं। परन्तु धीरे-धीरे खेती के क्षेत्र में भी पूँजीवाद का विकास हो रहा है। आर्थिक दृष्टि से छोटे किसानों को खेती घाटे का सौदा हो गयी है। इसलिये खेती के सामान को बेचकर किसान धीरे-धीरे मजदूर-वर्ग में शामिल होता चला जा रहा है।

पिछले वर्षों में खेतिहर-मजदूर की संख्या में जो वृद्धि हुई है, वह इस बात का सबूत है। १० वर्षों के अन्दर (१९२१-३१) जहाँ पहले १००० जोतों के बीच २९१ मजदूर होते थे, वहाँ आज ४०७ हैं। इस प्रकार धनी किसान पूँजीवादी किसानों का और गरीब किसान खेतिहर मजदूरों का रूप धारण करते जा रहे हैं। पूँजीवादी उत्पादन अब खेती की दुनिया में भी प्रवेश कर चुका है। इस क्षेत्र से अल्पान्न-उत्पादन खत्म होने लगा है। लेकिन अभी गति बहुत धीमी है।

खेती के एक क्षेत्र में तो पूँजीवाद भली प्रकार जड़ जमा चुका है। चाय-बागान, कॉफी और रबर के खेत आज बड़े-बड़े धनपतियों के अधिकार में हैं। इनमें काम करनेवाले लाखों किसान रोजाना मजदूरी पर जिन्दगी भर काम करते हैं। सारे देश में दस लाख से अधिक मजदूर आसाम के इन चाय-बागानों में काम करते हैं।

कल-उद्योगों के क्षेत्र में पूँजीवाद काफी प्रगति कर चुका है। अँगरेजों के यहाँ आने से पहले गाँव में आपको जो कारीगर और निपुण बुनकर दिखलाई देते थे, वे सब आज मशीन के पेट में समा गये हैं। हिन्दुस्तान के गाँवों की कारीगरी खत्म हो चुकी है। युद्ध के बाद तो यहाँ मशीनों की बड़ी तेजी से वृद्धि हुई। आगे के आँकड़ों से पूँजीवादी व्यवसाय की बढ़ती का पूरा चित्र हमारे सामने आ जायगा।

(अ) लिमिटेड कम्पनियों में लगी हुई पूँजी का विकास :—

संख्या	सन् १४-१५	संख्या	सन् १९३८-३९
२५४५	लागत पूँजी		लागत पूँजी
	८०·७८ करोड़	११११४	२९०·३ करोड़

इस प्रकार रेल और नहरों के विभाग में सरकार ने धन-पतियों से उधार लेकर बहुत-सी पूँजी लगायी है। और, आज इन सारे व्यवसायों में अनाप-शनाप पूँजी लगाई जा चुकी है।

(ब) बड़े पैपाने पर संगठित उद्योग-धन्धों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या में वृद्धि :—

आज से ८० वर्ष पहले देश में कारखानी मजदूरों का नाम तक न था। लेकिन १९३५ से कल-कारखाने में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या का रोजाना औसत २५ लाख तक पहुँच गया है।

(स) खेतिहर मजदूर के अलावा मजदूरी पर काम करनेवाले मजदूरों की संख्या :—

१९३२ में जो मताधिकार कमेटी बैठी थी, उसकी रिपोर्ट के अनुसार उस समय तक खेती के बाहर २५० लाख मजदूर काम करते थे। और आज तो सारा व्यवसाय इन्हीं पूँजी-पतियों के हाथ में ही है! बैंक सारे-के-सारे इन्हीं के कब्जे में हैं। कुल मिलाकर सन् १९३१ में खेतों और कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या ५९५ लाख थी, जब कि

समूचे देश में, सभी प्रकार के कामों में जो लोग काम करते थे, उनकी संख्या केवल १ करोड़ ५४ लाख थी। यानी सब क्षेत्रों में ३६% फी सदी से अधिक लोग केवल मजदूरी से अपना निर्वाह करते थे।

इस प्रगति के बावजूद भी दूसरे देशों की अपेक्षा हिन्दुस्तान में पूँजीवाद उतनी तेजी से आगे नहीं बढ़ा है जितनी तेजी से यूरोप के दूसरे देशों में। इस देश में इसके सम्यक् विकास में कुछ रुकावटें कारण रही हैं। इन्हीं बाधाओं से हिन्दुस्तान की आर्थिक प्रगति धीमी रही है। और इसी कारण पूर्व-पूँजीवादी उत्पादन से पूँजीवादी उत्पादन की दिशा की ओर बढ़ने की चाल बहुत मन्द रही है।

इसके दो प्रधान कारण रहे हैं :—

(१) विदेशी साम्राज्यवाद का असर

विदेशी हुकूमत के कारण देश में पूँजीवादी विकास को पूरा प्रोत्साहन नहीं मिला ; इसीलिये हमारे देश में पूँजीवादी दिशा में आर्थिक रचना का विकास संतोषजनक नहीं रहा।

(२) सामंतवादी आर्थिक और राजनीतिक अवस्था

इस देश में विदेशी हुकूमत की जड़ मजबूत बनाये रखने के लिये एक सहारे की जरूरत थी, और यह सहारा, सामंतवाद ने दिया। हमारे देश के एक बहुत बड़े भाग में जमीन्दारी-प्रथा को इन्हीं विदेशियों ने अपने स्वार्थ के लिये कायम किया था

और, आजादी का इतिहास यह बतलाता है कि इस वर्ग ने विदेशी हुकूमत का हमेशा पोषण किया।

हिन्दुस्तान में, व्यापक पूँजीवादी उत्पादन के रास्ते में सबसे मजबूत दो बाधाएँ थीं—(१) विदेशी साम्राज्यवाद और (२) देशी सामंतवाद। यही कारण था कि जहाँ विदेशों में सामंतवाद को उखाड़ने की कोशिशें की गयीं, यहाँ उसकी बराबर रक्षा की गयी। प्राप्त सुविधाओं के भीतर दुनिया में पूँजीवाद का खूब विकास हुआ और आज यह विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। अब उसका कदम नीचे की ओर बढ़ने लगा है। इसके दुष्परिणाम आज हमारे सामने हैं। दुनिया में सब जगह पूँजीवादी ढंग पर विकास के सारे रास्ते बन्द हो चुके हैं। उसकी ताकतें खत्म हो चुकी हैं। आज पूँजीवाद की चौखटें चर्राने लगी हैं और इसके भीतर से समाजवादी तत्त्वों से पूर्ण एक नयी सामाजिक रचना का जन्म होगा। दुनिया के $\frac{1}{6}$ भाग में इसकी प्रतिष्ठा हो चुकी है। इंगलैण्ड की हुकूमत की वर्तमान दिशा आज उधर ही बढ़ रही है। हिन्दुस्तान की आर्थिक आजादी और राजनीतिक उत्थान 'समाजवाद' में ही छिपा है।

पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य

५

यह बताया जा चुका है कि पूँजीवादी वह प्रथा है जहाँ जनसंख्या का एक बहुत छोटा भाग उत्पत्ति के सारे साधनों (खेत, मिल, खदान, रेल, बैंक आदि) पर अपना अधिकार जमा लेता है। इन साधनों के बिना कुछ भी पैदा नहीं किया जा सकता। शेष समाज का उत्पत्ति के साधनों पर नहीं के बराबर अधिकार रहता है। इन लोगों की दशा बड़ी विचित्र होती है। अपने जीवन-निर्वाह के लिये इन्हें हरएक चीज चाहिए; लेकिन उत्पत्ति के साधन इनके हाथ में हैं नहीं जिनसे कि चीजें को पैदा किया जा सकें। मजबूरन इन्हें पूँजीपतियों के पास जाकर अपने श्रम को उसके साधनों के साथ इस्तेमाल करके आवश्यक वस्तुएँ पैदा करनी पड़ती हैं। इसी को चलतू भाषा में 'काम मिलना' कहते हैं। पूँजीपति ऐसे सभी लोगों के श्रम या मेहनत को खरीदता है। और अपने उत्पादक साधनों पर उन्हें काम करने को लगा देता है। लेकिन यह पूँजीपति इस 'श्रम-शक्ति' या मजदूरी के लिये क्या कीमत देता है ? क्या इन मजदूरों को यह पूँजीपति वह सारी कीमत इनके श्रम के बदले में दे देता है, जो इन वस्तुओं को

तैयार करने से मिली ? अगर वे ऐसा करें, तो फिर उनके लिये क्या बचे ? पूँजीपति को तो तब कुछ भी न मिले। साधनों की मिल्कियत ऐसी हालत में उन्हें फायदा नहीं पहुँचा सकती। लेकिन व्यवहार में ऐसा कभी होता नहीं। पूँजीपति अपने 'निजी लाभ' को हमेशा सामने रखता है। उसे इन साधनों और जरूरी पूँजी को इकट्ठा करने का शौक नहीं है; परन्तु इन सबसे वह अपने को अधिकाधिक सम्पन्न देखना चाहता है। उसे अच्छी तरह मालूम रहता है कि उसके हाथ में 'श्रम-शक्ति' नामक कितनी बड़ी दौलत है। क्योंकि उसके पास उत्पादन के साधन होते हैं और मजदूर-वर्ग बिना इन साधनों के कुछ पैदा कर नहीं सकता। इसलिये पूँजीपति अतनी शर्तें उनके सामने पेश करता है और उन्हें मानना पड़ता है। सर्वहारा-वर्ग के श्रम से उत्पन्न किये गये माल की कुल कीमत का एक बहुत छोटा हिस्सा वह मजदूर को मजदूरी के रूप में देता है और शेष का वह स्वयं मालिक बन जाता है। नतीजा यह होता है कि सारे समाज में मेहनत के द्वारा बहुत उत्पन्न मूल्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा पूँजीपति ले जाता है। श्रमजीवी की दयनीय अवस्था से लाभ उठाकर पूँजीपति मजदूर की शकल में उसे सिर्फ इतना पैसा देता है जिससे वह किसी तरह अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भरकर उन्हें जिन्दा रख सके, जो उसके मरने के बाद उसकी जगह ले सकें। इससे कम पूँजीपति नहीं दे सकता; क्योंकि तब

उसके लिये आगे काम करनेवाले इन मजदूरों की ही कमी पड़ जाय। लेकिन इस मजदूर को जो कुछ भी मजदूरी के रूप में मिलता है, उससे कहीं अधिक का कीमत की चीजें वह तैयार करता है। यह अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति की जेब में जाता है। इस प्रकार हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि श्रमिक-वर्ग का शोषण ही पूँजीवादी उत्पादन का मुख्य आधार है।

उदाहरण के लिये एक कपड़ा-मिल को लीजिये। उसमें काम करनेवाले मजदूरों की साप्ताहिक मजदूरी १००००) है, और इसके अलावा एक सप्ताह में लगनेवाले माल की कीमत, मशीन की घिसाई, कोयला इत्यादि की कीमत ३००००) होती है। ऐसी हालत में पूँजीपति कभी भी मिल चलाने का सिर-दर्द मोल न ले अगर एक सप्ताह में तैयार माल की कीमत केवल १००००)+३००००) ही हो। लेकिन, मान लीजिये, इस कारखाने में एक सप्ताह में ७००००) का माल तैयार होता है। इसके मानी हुए कि लागत मूल्य ३००००) पूँजीपति को अधिक मिले।

उपर्युक्त उदाहरण से यह साफ जाहिर होता है कि मजदूर अपनी मेहनत के वक्त में सिर्फ अपनी मेहनत ही मशीन से नहीं निकालता, वरन् मिल के स्वामी के लिये भी कुछ अतिरिक्त पैसा निकालता है। अपनी जीविका और प्राप्त मजदूरी को निकालने में जो वक्त मजदूरों को मिल में देना पड़ता है, उसे हम **आवश्यक श्रम-समय** कह सकते हैं और इसके अलावा

जो वक्त मालिक के लिये अतिरिक्त मूल्य को पैदा करने में लगता है, उसे **अतिरिक्त श्रम-समय** कहा जा सकता है। मजदूरों द्वारा अर्जित इस अतिरिक्त मूल्य का पूँजीपति द्वारा हड़प करना ही उस सारी पूँजी का स्रोत है, जो धनवानों की जेबों में जाता है। यह वह बिना मजदूरी की मेहनत है, जिसपर धनवान और उसके अश्रित लोग पलते हैं।

इस प्रकार हमें यह मालूम पड़ता है कि एक पूँजीवादी समाज में सारा अर्जित मूल्य दो भागों में बँट जाता है। एक हिस्सा उन लोगों को मिलता है, जो उत्पादन के वक्त में अपनी मेहनत को उसमें खपाते हैं। शेष उन पूँजीपतियों को मिलता है, जो उत्पादन के सारे साधनों के मालिक हैं। इस प्रकार यह समाज दो वर्गों मे बँट जाता है—एक वह वर्ग जिसे किये हुए काम या श्रम के लिये कुछ वेतन या मजदूरी मिलती है और दूसरा वह वर्ग जिसे उत्पादन के साधनों के स्वामी होने के नाते कुछ मिलता है। दोनों वर्ग यह अच्छी तरह जानते हैं कि हरएक अपने हिस्से की प्राप्त रकम को दूसरे को नुकसान पहुँचाकर ही बढ़ा सकता है। इसलिये इन दोनों वर्गों में अपने-अपने हित के लिये एक अनवरत संघर्ष हमेशा चला करता है। हड़तालें, तालाबन्दी आदि इसी संघर्ष के कुछ प्रतीक हैं।

श्रम का शोषण ही पूँजीवादी प्रथा का मूलधार है, और इसका एक और अनिवार्य नतीजा होता है। समाज का

अधिकांश पूँजीपतिवाला वर्ग बहुत थोड़ा पैसा पाता है जब की चन्द पूँजीपति इस उत्पादन का बड़ा हिस्सा ले लेते हैं। इससे समाज में आर्थिक विषमता बढ़ती है। और, यही वह प्रथा है जिसके कारण हम कह सकते हैं कि धनियों के भव्य महलों की नींव में मजदूरों की हड्डियाँ लगी हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रकट हो जाता है कि मजदूर अपने लिये कुल काम के घंटों का सिर्फ एक हिस्सा ही उसमें लगाता है। दिन का शेष भाग वह अपने मालिक के लिये काम करने में खर्च करता है। साधारणतया काम के घंटों की सीमा १० घंटा रोज है, तो औसतन ५ घंटे रोज तो एक मजदूर अपनी मजदूरी निकालने के लिये काम करता है और ५ घंटे रोज अपने मालिक के लिये। लेकिन अफसोस की बात यह है कि मजदूर इस तथ्य को जानता नहीं। और, इस प्रकार लाखों मजदूरों का शोषण रोज चालू रहता है। सामंतवादी प्रथा के अन्दर दास या गुलाम को ऐसा बोध रहता था कि उसे जबरन अपने स्वामी के लिये काम करना पड़ता है; पर इस पूँजीवादी प्रथा में मजदूर को यह मालूम रहता है कि उसे उसकी मजदूरी के लिये पैसे मिलते हैं दोनां सामाजिक अवस्थाओं के बीच यह अन्तर है।

अब देखना यह है कि पूँजीवादी किन-किन उपायों से अपने लाभ को बढ़ाता है। क्योंकि यह कोशिश तो हरएक पूँजीपति करता है कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो।

(१) काम के घंटों को बढ़ाकर

मान लीजिये, केवल अपनी मजदूरी के पैसे निकालने के लिये एक मजदूर को सिर्फ ५ घंटे काम करना ही जरूरी हो, तो इन पाँच घंटों को हम आवश्यक श्रम-समय कह सकते हैं। अगर काम के घंटे फी रोज १० हैं, तो मालिक को ५ घंटे का मुफ्त श्रम मिलता है। अगर यह घंटे १२ हों, तो उसे ७ घंटे का मुफ्त श्रम मिलेगा। इसलिये पूँजीपति हमेशा यह कोशिश करता है कि काम के घंटों की संख्या अधिक हो, इस प्रकार घंटों को बढ़ाकर, आने और जाने के समय से दो-चार मिनटें चुराकर वह और भी समय बचा लेता है, और अगर फी मजदूर पूँजीपति २ मिनट रोज भी बचाता है, तो हजारों रुपयों का श्रम उसे मुफ्त में और मिल जाता है।

(२) श्रम की उत्पत्ति मात्रा बढ़ाकर

मशीन के नये-नये आविष्कारों और निपुणता ने आज मजदूरों को इस काबिल बना दिया है कि वे एक साथ कई साँचे पर काम कर सकें या और कोई काम ज्यादा कर सकें। मशीन की इस निपुणता के कारण पूँजीपति आज एक मजदूर से ६ घंटे में उतना काम ले लेता है जितना वह ६ घंटे में ले पाता था। इससे काम की निकास-मात्रा (Out put) बढ़ गयी, और उसी हिसाब से अर्जित लाभ में भी वृद्धि हो गयी है।

(३) श्रम-समय को कम करके

इसी प्रकार कसी काम में जो आवश्यक समय लगता है, उस निश्चित समय की मात्रा में वैज्ञानिक साधनों की सहायता से कमी करने पर भी अधिक बचत होती है। अर्थात् अपनी मजदूरी को निकालने में पहले उसे यदि ३ घंटे रोज लगते हों, तो अधिक कुशल मशीन पर काम करने से उसे दो या ढाई घंटे ही लगेंगे। इस प्रकार निर्वाह-समय और कम हो जाता है। और उतने ही अंश में मालिक के लिये काम करने की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(४) स्त्री और बच्चों की नौकरी

आवश्य श्रम-समय को और घटाने के लिये मालिक स्त्री और बच्चों को भी काम पर लगाता है। इस प्रकार पहले जितनी मजदूरी सिर्फ परिवार के मुख्य आदमी को दी जाती थी, उतनी मजदूरी के आस-पास वह अब स्त्री-बच्चे और मुख्य पालक सबको मिलाकर देता है। फिर एक पुरुष की अपेक्षा स्त्री को कम मजदूरी दी जाती है। अर्थात् करीब-करीब उतना ही काम उससे (स्त्री से) बहुत कम पैसों में हो जाता है।

ऊपर के सारे कारणों के यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि समाज में पहले श्रम का शोषण था ही नहीं या उसे पूँजीवादी ने ही पहले-पहल आरम्भ किया। दास-प्रथा और सामंतशाही

के जमाने में भी शोषण होता था; लेकिन अन्तर इतना ही है कि पूँजीवाद के युग में अतिरिक्तश्रम की प्यास ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। सामंतवादी समाज में बंधकों या किसानों से उतना ही काम लिया जाता था जितना सामंत की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जरूरी था। जबकि आज पूँजीवाद में इसकी कोई सीमा नहीं रही है।

ज्यों-ज्यों पूँजीवाद विकसित होता जाता है, श्रमिक वर्ग का शोषण बढ़ता जाता है; शोषण की मात्रा में वृद्धि होती जाती है। सारी राष्ट्रीय सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग, जो पूँजीपति के पास जाता है और बढ़ता जाता है और इधर मजदूर-वर्ग को सम्पत्ति का छोटे-से-छोटा हिस्सा मिलता है। कुल राष्ट्रीय आय का ३० प्रतिशत इन असंख्य मजदूरों में बँटता है और ७० प्रतिशत उन दो-चार-दस धनपतियों को मिलता है।

इस क्रम के साथ एक और परिवर्तन होता चला जाता है—पूँजीपतियों की संख्या में धीरे-धीरे कमी होती जाती है जब कि मजदूरों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ती जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में हिस्सा पानेवाले लोग भी दिनोंदिन कम होते जाते हैं।

अन्त में हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मजदूर-वर्ग का शोषण ही पूँजीवाद का आधार है। अतिरिक्त मूल्य और लाभ के लोभ से पूँजीपति अपने उत्पादक साधनों पर मजदूर

को काम करने की इजाजत देता है। हालाँ कि मजदूरी का पहलू सारे तथ्य पर परदा डाल देता है। फिर भी श्रम का शोषण इतना ही सच्चा है जितना कभी भी, किसी एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग का हुआ है। पूँजीवादी समाज में इस शोषण की सीमा नहीं खींची जा सकती। जब तक समाज में स्वाभाविक उत्पादक क्रम चालू था, शोषण को हाथ-पैर फैलाने की अधिक गुंजायश नहीं थी। आज जैसे-जैसे इस प्रथा में विकास होता जाता है, शोषण के अंश में भी वृद्धि होती जाती है। इससे आय और दौलत में भयंकर विषमता पैदा होती जाती है और विषमता से दुष्परिणामों की संभावना।

पूँजीवाद में बरबादी और अव्यवस्था

६

लेनिन के शब्दों में पूँजीवाद उस व्यवस्था का नाम है जहाँ पदार्थों या वस्तुओं का उत्पादन विकास की चरम अवस्था पर पहुँचा हुआ हो। अब प्रश्न उठता है कि फिर यह पदार्थ (Commodity) है क्या ? "श्रम या मेहनत के वे सभी उत्पादन, जो अपनी आवश्यकता के लिये नहीं वरन् बिक्री के लिये तैयार किये जाते हैं, पण्य द्रव्य या पदार्थ कहे जाते हैं।" पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि पदार्थ-उत्पादन का चलन पूर्व पूँजीवादी व्यवस्था में भी था। कारीगर या दस्तकार जो वस्तुएँ बनाता था, वे प्राय: बाजार में बेची जाती थीं। किसान भी अपनी पैदावार का एक हिस्सा बाजार में जाकर बेचता था। लेकिन पदार्थ या जिन्स-उत्पादन की पूरी तरक्की पूँजीवादी आर्थिक ढाँचे में पहुँचकर ही हुई है। इस व्यवस्था के अन्दर समाज के एक छोटे तबके के हाथ में उत्पादन के सारे साधन आ जाते हैं और शेष समाज साधनों की इस मिल्कियत से वंचित कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज अपने श्रम या मेहनत का उपयोग नहीं कर सकता। अत: समाज का यह दूसरा

भाग अपने श्रम को पहले वर्ग (पूँजीपति) के हाथ में बेच देता है। इस तरह बाजार में एक नये प्रकार का पण्य या पदार्थ बिक्री के लिये आता है। जो पूर्व पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्दर बाजार में नहीं आता था। इस पदार्थ या पण्य का नाम है करोड़ों अपूँजीवादी लोगों की श्रमशक्ति (Labour-power)। यह एक कारण है जिससे कि लेनिन पूँजीवाद को पदार्थ या पण्य-उत्पादन की परम विकसित अवस्था का सूचक मानता है। एक दूसरा कारण और है। पूर्ण विकसित पूँजीवाद में पदार्थ-उत्पादन का क्षेत्र असीम हो जाता है। पदार्थ-उत्पादन सार्वभौमिक बन जाता है। पूँजीपति लोग अपने-अपने उत्पादक साधनों का प्रयोग किराये पर लिये गये श्रम के सहयोग से करते हैं। इन सारे साधनों से उत्पन्न पण्य या जिन्स (पदार्थ) व्यक्तिगत व्यवहार में न आकर बाजार में बिक्री के लिये जाते हैं। उत्पन्न पदार्थ या जिन्स शेष समाज द्वारा उपयोग में आता है। अतः पण्य या जिन्स उत्पादन की चरमावस्था पूँजीवाद की एक मौलिक या तात्त्विक विशेषता है।

उत्पादन की बरबादी

इस प्रकार के पण्य-उत्पादन का बरबादी या अव्यवस्था एक लाजिमी नतीजा है। उत्पादन की इस क्रिया की कोई योजना नहीं होती। जो जिसके मन में आता है, पैदा या

तैयार करता है। प्रकार या मात्रा दोनों पर समाज का अंकुश नहीं रहता और ऐसी हालत में योजना और नियन्त्रण के अभाव में समाज के आर्थिक जीवन में एक प्रकार की गड़बड़ी मच जाती है। स्वाभाविक उत्पादन (Natural production) में व्यक्ति को जितनी जरूरत होती है, वह उतना ही पैदा करता था; लेकिन पूँजीवादी उत्पादन में उत्पादन की यह स्वाभाविक अवस्था खत्म हो जाती है। हरएक पूँजीवादी समाज के लिये माल उत्पन्न करता है, पर वह समाज से यह कभी नहीं पूछता कि उसे (समाज को) क्या और कितनी जरूरत है। सारा उत्पादन पूँजीवादी की इच्छा से होता है। जिस उत्पादन में अधिक-से-अधिक लाभ की संभावना होती है, पूँजोपति वही माल तैयार करता है। जिसके जो मन में आया कर दौड़ा। हमारे देश में आज उत्पादन की कितनी अव्यवस्था है। देश को खाद्य-पदार्थों की आवश्यकता है और खेत में मिर्चें लगायी जाती हैं। जरूरत गेहूँ की है और खेतों में रोपी जाती है तम्बाकू। माँग रहने के मकानों की है और बनते हैं नाच-घर और सिनेमा या दूकानें। कौन रोजगार मुनाफावाला है, यह प्रधान विचार है। शेष समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा, इस बात को सोचने की फुरसत पूँजीपति को नहीं। यही कारण है कि पूँजीवाद में जो कुछ पैदा किया जाता है, उसकी न कोई व्यवस्था होती है और न योजना। सारा उत्पादन समाज-हित की दृष्टि से बेसमझी और बरबादी से भरा रहता है।

अब एक और प्रश्न उठता है कि पूँजीपति स्वयं इस बात का निर्णय कैसे करता है कि उसे क्या और कितना माल तैयार करना है। यह निर्णय वह बाजार की हालत को देखकर करता है; क्योंकि उसका उद्देश्य मानव, समाज या देश-सेवा नहीं, अधिकतम लाभ प्राप्त करना रहता है। अत: उत्पादन के निर्णय में अनुमानित या संभावित लाभ का प्रधान हाथ रहता है। सिर्फ वही माल तैयार किया जाता है जिससे मालिक को लाभ हो। अगर घाटेवाले पदार्थ वह तैयार करे, तो बड़ी जल्दी मशीन और अन्य औजार बेचकर वह दिवालिया बन जाय। इसलिये पूँजीपति सिर्फ वही माल या पण्य तैयार करता है जिसका उत्पादन लाभकारी हो। यही कारण है कि आज इस देश का ईमानदार विचारक गाँधीजी के सर्वोदयवाद या 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त को हजम नहीं कर सकता। जिस वर्ग या समूह की बुनियाद लाभ और व्यक्तिगत स्वार्थ है, उससे 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त का कैसे पोषण और पालन होगा? बापू की ३० वर्ष की तपस्या और प्रयोग के बाद भी हमें कोई पूँजीपति ऐसा नहीं मिला जिसने अपनी दौलत और पूँजी को राष्ट्र की सम्पत्ति होने की घोषणा कर दी हो। लाभ के अखंड नियम का पालन हरएक पूँजीपति को करना पड़ता है; जो नहीं करता, उसे पूँजीवाद की शृंखला में से निकालकर फेंक दिया जाता है।

पूँजीपति को लाभ तभी होता है जब वस्तुएँ या माल

बाजार में लागत मूल्य से ज्यादा कीमत पर बेचा जाता है। इस तरह अधिक मूल्य पर जिन चीजों को नहीं बेचा जा सकता, वे घाटे का कारण होती हैं। इसीलिये पूँजीपति पहले यह मालूम करने की कोशिश करता है कि बाजार में माँग किस चीज की है। लोगों की आवश्यकता का वह विचार नहीं करता। पिछले वर्षों में पाठकों ने देखा होगा कि जरूरत देश को मोटे या सादे कपड़े की थी और कारखानों से निकलता था। फैंसी कपड़ा अपने इस व्यवहार से पूँजीवाद समाज में बड़ी भयंकर विषमता को जन्म देता है। इसका विनाश परिणाम यह होता है कि बहुत-से लोग जो मेहनत-मजदूरी करके अपना गुजर करते हैं, अपनी जरूरत की चीजें भी नहीं खरीद सकते। जब कि साधन-संपन्न लोगों के पास इतनी दौलत आ जाती है कि वे अपने वैभव की चीजों पर पानी की तरह रुपये बहाते हैं। नतीजा यह होता है कि मुल्क को जिन चीजों की जरूरत होती है, वे तैयार नहीं की जाती हैं और चन्द लोगों के द्वारा चाही हुई आराम और वभव की चीजों को तैयार करने में देश के उत्पादक साधनों का प्रयोग होता है। देश के लाखों लोग मिट्टी के घरौंदों में दिन काटते हैं और चन्द धनपतियों के लिये रंगमहल और उपासना-महलों का निर्माण किया जाता है।

उत्पादन की गलत दिशा के कारण धनियों के वैभव और ऐश-आराम की चीजों को तैयार किया जाता है जब कि आम

जनता सख्त जरूरत की चीजों के अभाव में मिटती रहती है ।

सिर्फ इतना ही नहीं, दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने वाली आर्थिक विषमता समाज में बड़े भयङ्कर दुष्परिणामों को जन्म देती है। चोरी, खून, डाकाजनी आदि के मुकदमों का आप अध्ययन कीजिये। आपको यह जानकर आश्चर्य नहीं होगा कि इनमें से ६५ फी सदी मुकदमे और बारदातें धनाभाव और विषमता के कारण हुई। कभी-कभी तो जिस माल की देश को सबसे अधिक जरूरत होती है, उसे ही रोक दिया जाता है। चीजों की कीमतें न गिरें, बाजार में माल का अभाव बना रहे, इसलिये कुछ वस्तुओं के उत्पादन पर प्रतिबंध लगाकर और तैयार माल को नष्ट करके जिसकी कि करोड़ों लोगों को जरूरत है, चीजों की कीमतों को गिरने से रोका जाता है, ताकि पूँजीपतियों की जेबों में खूब पैसे जायें। पूँजीवादी प्रथा के के सब अभिशाप हैं।

अमेरिका में किस तरह चीजों के भाव को नीचे गिरने से रोकने के लिये लाखों मन गल्ला समुद्र में फेंक दिया जाता है; किस तरह वहाँ तैयार माल को बरबाद किया जाता है; इसके उदाहरण वहाँ के इतिहास में भरे पड़े हैं। एक बार लाखों भेड़ों को जिन्दा जला दिया गया था, इसलिये कि भेड़ों की कीमत नीचे न गिरे। एक बार २ करोड़ २० लाख कॉफी के थैले समुद्र में फेंक दिये गये थे, इसलिये कि भाव सस्ता न हो। और यह

सब बरबादी उस समय हुई जब लाखों मजदूर इन्हीं वस्तुओं को पाने के लिये तरस रहे थे।

क्या इससे यह साबित नहीं होता कि इस प्रथा के अन्दर हम अपने सारे प्राप्य उत्पादक साधनों को पूरी तरह काम में भी नहीं ला सकते। पूँजीवादी प्रथा का यह एक ऐसा पहलू है जिसे बरदाश्त नहीं किया जा सकता। लाखों लोग मजबूरन बेरोजगारी के और बेकारी से भूखों मरने लगते हैं। ये लोग ईमानदारी और मेहनत की जिन्दगी बिताना चाहते हैं; पर लाचार होकर उन्हें या तो भूखों मरना पड़ता है या दूसरे के सामने हाथ फैलाना पड़ता है या फिर असामाजिक साधनों—जैसे चोरी, डकैती का सहारा लेना पड़ता है। मानव की उत्पादक शक्ति बेकार हो जाती है। असंख्य लोग बेकारी की चक्की में पिसते रहते हैं। राष्ट्र की शांति भंग होती है। अपराधों की सृष्टि होती है। और इन सबको फैलने से रोकने के लिये नये-नये अमानुषिक कानूनों की रचना होती है। पश्चिमी देशों में तो आज औरतों की संख्या अधिक होने के कारण उन्हें कमाउ पति नहीं मिल पाता, और इसलिये उन्हें अविवाहित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अपने ही देश में कितने माता-पिता स्वयं अपनी लड़कियों के सतीत्व को पैसेवालों के हाथ में बेचने को मजबूर होते हैं। क्योंकि उनके पास जिन्दा रहने का और कोई साधन नहीं। अमेरिका में यह बेरोजगारी सन् १६२० के लगभग २० लाख थी। सन् ३२ में यह बेकारी

४ करोड़ १५ लाख तक पहुँच गयी। ब्रिटेन आदि देशों में भी पूँजीवाद के भयंकर परिणाम आज सामने आ चुके हैं। युद्ध के पहले इस देश में लाखों मकान खाली पड़े थे जब कि लाखों लोगों को खुले आसमान के नीचे और सड़क पर रातें काटनी पड़ती थीं। सूती कारखाने बन्द थे जब कि गरीबों के पास शरीर ढँकने के लिये कपड़ा न था। डाक्टरी बन्द थी; क्योंकि मरीज नहीं आते थे। और रोगी गलियों में मर रहे थे; क्योंकि उन्हें डाक्टर प्राप्य नहीं था। यह है पूँजीवादी व्यवस्था का नग्न रूप। इसका नंगापन, इसकी बरबादी पूँजीवादी साम्राज्यवाद के अन्तर्गत और स्पष्ट हो उठती है।

पूँजीवाद के विरोधी तत्त्व

७

जो पदार्थ मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करता है, उसे वस्तु (Goods) कहते हैं। ये वस्तुएँ (Goods) दो प्रकार की होती हैं—(१) उपभोग्य वस्तु (Consumer's goods) और (२) उत्पादक वस्तु (Producer's goods) प्रथम श्रेणी में वे सारे पदार्थ आते हैं, जो सीधे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उदाहरण के लिये रोटी, कपड़ा, पुस्तकें, मकान, जूता और ऐसी ही हजारों वस्तुएँ। दूसरी श्रेणी में वे वस्तुएँ आती हैं, जो सीधे तौर पर हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति तो नहीं करतीं, पर जिनका उपयोग उपभोग्य वस्तुओं के तैयार करने में होता है। उदाहरण के लिये मशीन, औजार, कारखाने, इमारतें, बिजली और कच्चा माल इत्यादि। फिर दोनों श्रेणियों के बीच की रेखा नहीं खींची जा सकती। उदाहरण के लिये कोयला दोनों श्रेणियों में आता है। दूसरे प्रकार की वस्तु स्वयं उसकी अपनी जरूरत के लिये तैयार नहीं की जाती; बल्कि उसका उत्पादन इसलिये जरूरी होता है कि वह प्रथम श्रेणी की वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होती है।

प्रत्येक आर्थिक समाज के लिये यह आवश्यक है कि वह

अपने लोगों के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अपनी उत्पादक क्षमता का उचित अंश उपभोग्य वस्तुएँ या माल तैयार करने में लगाये। अगर कोई समाज उपभोग्य वस्तुओं के तैयार करने में उन साधनों का कम इस्तेमाल करता है, तो उस समाज का जीवन खत्म हो जाता है या अन्दर गड़बड़ी मच जाती है। दूसरी ओर वह अपनी उत्पादी क्षमता (Production capacity) का सिर्फ उतना ही अंश उत्पादक माल तैयार करने में लगाये जितना कि पुराने उत्पादक माल को बदलने के लिये काफी हो। अगर इससे कम अंश उत्पादक मालों के तैयार करने में लगाया जाता है, तो उस समाज के उत्पादक साधन (Means of production) खत्म हो जायगे और ऐसी अवस्था में सारा उत्पादन बन्द हो जायगा। इन दोन बातों के लिये उत्पादी शक्ति (Production power) का कितना अंश किस बात में लगाना है, यह निर्णय समाज की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर होना चाहिए। अगर समाज को अपने उत्पादक साधनों को उन्नत करना है, तो अधिक शक्ति इधर लगाना जरूरी है। अगर उपभोग्य माल की अधिक जरूरत है, तो उत्पादी शक्ति का उधर लगाना जरूरी है। लेकिन दुर्भाग्य से पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था इन बातों पर ध्यान नहीं देती। समाज की आवश्यकता का उसके निर्णय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कोई ऐसी योजना नहीं रहती जो उत्पादी-शक्ति के बँटवारे पर आवश्यकतानुसार विचार करे। यहाँ

लोगों की इच्छा और आवश्यकता का कोई प्रश्न नहीं उठता। प्रश्न का निश्चय दूसरी बातों के आधार पर होता है। कैसे?

एक व्यक्ति अपनी आमदनी दो तरह से खर्च करता है। या तो वह उसका उपयोग उपभोग्य वस्तु के खरीदने में करता है या वह उसे बचाकर पूँजी के रूप में लगाये। दूसरे प्रकार में वह अपने संचित धन को उत्पादक माल के खरीदने में खर्च करता है। इसलिये जब किसी समाज में बचत अधिक होती है, लोग उपभोग्य वस्तुओं पर कम खर्च करते हैं, और इस प्रकार उत्पादक माल की माँग बढ़ जाती है। दूसरी ओर उपभोग्य वस्तुओं की माँग बाजार में गिर जाती है। और अगर बचे हुए धन को समाज उपभोग्य वस्तुओं पर अधिक लगाता है, तो उपभोग्य वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है और उत्पादक माल की माँग गिर जाती है। ऐसी हालत में लाभ के इशारे पर चलनेवाली उत्पादी शक्ति हमेशा माँग का अनुकरण करती है। जरूरत का उसे ख्याल नहीं रहता और इसलिये दोनों के बीच संतुलन करना उसके लिये असंभव रहता है। इस प्रकार यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न खर्च के विरुद्ध बचत की मात्रा द्वारा तय किया जाता है। लाभ कहाँ और कैसे अधिक होगा, यह भावना निर्णायक होती है। सारा समाज मिलकर कभी इस सवाल को तय नहीं करता। इसका निर्णय उन ताकतों पर छोड़ दिया जाता है जिनपर हमारा कोई वश नहीं होता।

हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि प्रत्येक पूँजीपति

अपने लिये उत्पादन नहीं करता, बल्कि वह बाजार के लिये माल या वस्तुएँ तैयार करता है, इसलिये उसका माल जरूर बिकना चाहिए। उस माल के पैसे होने चाहिये, नहीं तो वह दिवालिया हो जायेगा—उसे नुकसान होगा। इसलिये यह देखना चाहिए कि यह व्यवस्था (Capital system) सारे उत्पन्न माल की बिक्री का विश्वास कैसे दिलाती है ?

पाठक यह भी भली प्रकार जानते हैं कि इस व्यवस्था में समूचे लाभ को बाँटने का तरीका बड़ी असमानता से भरा है। मजदूरों को इस व्यवस्था के अन्दर लाभ का कम-से-कम अंश मिलता है। और लाभ का बड़े-से-बड़ा भाग चन्द पूँजीपतियों में बाँट दिया जाता है। यह श्रमिक-वर्ग प्राप्त अंश का अधिकांश खर्च कर डालता है। लेकिन पूँजीपति अपनी ऐयाशी और फिजूलखर्ची के बाद भी सारा प्राप्त धन या तो खर्च कर नहीं सकता या करना नहीं चाहता। दो कारण हैं, जो उसे पैसा बचाने या फिर व्यवसाय में लगाने को मजबूर करते हैं। (१) उसके मन में हमेशा अधिक-से-अधिक जमा करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। (२) अपने दूसरे पूँजीपतियों के सामने साधन और व्यवसाय में पीछे न रह जाने की भावना। इसलिये प्रत्येक पूँजीपति उद्योग के नवीनतम प्रयोगों को अमल में लाना चाहता है जिससे उसे उसके प्रतिद्वन्द्वी उत्पादन की मात्रा और सुविधा में हरा न सकें। इन सारी बातों के लिये उसे बहुत बड़ी तादाद में रुपया बचाकर रखना पड़ता है।

परिणाम यह होता है कि इस प्रकार व्यवसाय द्वारा अर्जित धन का बहुत बड़ा हिस्सा बचाया जाता है। और इस धन को पुनः उपभोग्य पदार्थ खरीदनें में, खर्च करने के बजाय उत्पादक साधनों के खरीदने में खर्च किया जाता है। नतीजा यह होता है कि माँग का ध्यान रखकर उपभोग्य वस्तुओं की अपेक्षा उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन अधिक होने लगता है। इस प्रकार जिन साधनों को समाज की उपभोग्य वस्तुओं के तैयार करने में लगना चाहिये था, दूसरी ओर लगाये जाते हैं। कुछ समय तक यही क्रम चालू रहता है।

इस प्रकार नये साधनों में लगा हुआ पैसा फिर प्राप्त लाभ को समाज में असमानता से बाँटेगा और हर नवीन लागत के साथ समाज की विषमता और बढ़ती जाती है। दिनोंदिन उत्पादक माल को तैयार करने में सब पूँजीपति जुट जाते हैं। उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में कम साधन लगाये जाते हैं। यह चक्र चालू रहता है। थोड़े ही दिनों में समाज उपभोग्य वस्तुओं से खाली हो जाता है और उत्पादक माल से बाजार पट जाता है।

दूसरी बात यह है कि इस प्रथा के बढ़ने के साथ ही धन का प्रभुत्व केन्द्रित होता चला जाता है। यहाँ तक कि कुछ समय बाद चन्द लोगों के हाथ में ही राष्ट्र का सारा धन संचित हो जाता है। जनसंख्या का अधिकांश दिनोंदिन गरीब और पैसे से खाली होता जाता है और थोड़े लोग पूँजी के स्वामी

रह जाते हैं। नीचे की तालिका इस बात की पुष्टि करती है :—

अमेरिका में १८७० ई० तक कुल संख्या का ५०% प्रतिशत लोग ऐसे थे, जो श्रम या मेहनत से अपना गुजर करते थे। सन् १९३५ में इन लोगों का औसत ८०% फी सदी तक पहुँच गया था। इससे यह प्रकट होता है कि कितने स्वतंत्र जीविका-वाले धीरे-धीरे मजदूर हो गये। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में सन् १९२९ में केवल ३% लोगों के हाथ में ही व्यापार के सारे हिस्से थे। और इन्हीं तीन फी सदी लोगों को कुल लाभ का ७८% मिलता था। ऊपर के आँकड़ों से यह प्रकट होता है कि अमेरिका में पूँजी का स्वामित्व सिर्फ तीन फी सदी लोगों के पास है और शेष जनता के पास मजदूरी करने के अलावा जीविका का कोई साधन नहीं। ऊपर दिये गये आँकड़े हमें यह बताते हैं कि पूँजीपतियों की जेब में जानेवाले लाभ की मात्रा हमेशा बढ़ती जाती है और पूँजीपतियों की संख्या हमेशा घटती जाती है। दूसरी ओर श्रमिकों की संख्या बढ़ती जाती है और उनको मिलनेवाले लाभ का हिस्सा कम होता जाता है। परिणाम में समाज को मिलती हैं—भयंकर विषमता और गरीबी।

उपर्युक्त कारणों से कोई भी इस नतीजे पर पहुँच सकता है कि यदि पूँजीवादी प्रथा को चालू रखना है तो उत्पादक साधनों का एक बड़ा भाग उत्पादक माल को तैयार करने में लगना चाहिये। पूँजीवाद के आरम्भ में यह नीति किसी भी देश के लिये लाभप्रद हो सकती है, पर उसका यही गुण आगे

चलकर राष्ट्र के लिये अभिशाप बन जाता है। क्योंकि सिद्धान्त-रूप से सारे उत्पादन का उद्देश्य तो उपयोगी माल को तैयार करना ही है।

पूँजीवाद का सबसे भयंकर अभिशाप और विरोधी तत्त्व यह है कि इसमें राष्ट्र की उत्पादक क्षमता तो बहुत बढ़ जाती है, लेकिन जनता की क्रय-क्षमता (Purchasing power) बहुत नीचे गिर जाती है। नतीजा यह होता है कि जो उपभोग्य माल तैयार होता है, वह बिक नहीं सकता। सार्वजनिक सुरक्षा और उपभोग की सुविधा यह आर्थिक व्यवस्था नहीं देती। जैसे-जैसे पूँजीवाद विकसित होता जाता है, विरोधी तत्त्व और अधिक मजबूत और व्यापक होते जाते हैं। अन्त में एक ऐसी अवस्था आ पहुँचती है जहाँ पहुँचकर समाज का आर्थिक विकास असंभव हो जाता है। एक निश्चित सीमा के बाद पूँजीवादी व्यवस्था फेल हो जाती है और उसके बाद असीम आर्थिक विकास की योजनाओं के द्वार खुल सकते हैं। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक राष्ट्र इस पुरानी आर्थिक परिपाटी को समाज के ऊपर से उतार फेंके; क्योंकि पूँजीवाद की उम्र अब पूरी हो चुकी है। उपयोग से अधिक यह जिन्दा रह चुका है। इसके स्थान पर हमें समाजवादी आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना है जहाँ उत्पादक साधनों की बढ़ती हुई क्षमता और जनता की क्रय-शक्ति के ह्रास के बीच के विरोधी तत्त्व धीरे-धीरे ओझल हो जायेंगे।

पूँजीवाद के दुष्परिणाम

८

पूँजीवाद की रफ्तार हमेशा समान नहीं होती। इसके कदम कभी बड़ी तेजी से आगे पड़ते हैं और कभी समय के थपेड़े खा इसे पीछे मुड़ना पड़ता है। कुछ वर्षों के बाद इसका विकास स्वयं अपने नाश का कारण बन जाता है। समाज में आर्थिक संकट पैदा हो जाता है। अभाव, भुखमरी, बेरोजगारी और बरबादी की एक बाढ़ आ जाती है। इससे पूँजीवाद के विकास को बड़ी चोट लगती है। पूँजीवादी आर्थिक रचना में ऐसे संकट काल प्राय: आते ही रहते हैं।

पण्य-उत्पादन (Commodity production) में ऐसी आर्थिक गड़बड़ी हमेशा संभव है। कभी-कभी तो स्वाभाविक पण्य-उत्पादन (Natural production) तक में ऐसे वक्त आ जाते हैं, जहाँ अलग-अलग लाखों लोग बाजार के लिये चीजें पैदा करने लग जाते हैं। किसी पूर्व-योजना के अनुसार 'उत्पादन' का संचालन न होने से ऐसा ही होता है। लेकिन साधारण उत्पादन में इस संकट की व्यापकता और गंभीरता सीमित रहती है। पर जहाँ उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है, और वह भी योजना-शून्य, तो संकट अपनी चरम सीमा पर

पहुँच जाता है। बड़े-बड़े कारखाने ऐसी असंख्य वस्तुएँ तैयार करते चले जाते हैं जिनकी किसी को जरूरत नहीं। आवश्यकता और माँग के अभाव में ऐसा लाखों मन सामान बाजार में पड़ा-पड़ा सड़ा करता है। उत्पादक मालिक स्वयं बरबाद हो जाते हैं। बहुतों का दिवाला निकल जाता है। करोड़ों लोग बेरोजगार होकर भूखों मरने लगते हैं। बरबादी और अरक्षा समाज का नियम बन जाता है। इतना सब होने पर भी समाज का खुद इस व्यवस्था पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ऐसे संकट काल केवल संभावित ही नहीं, अनिवार्य हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में कुछ विरोधी तत्त्व हमेशा छिपे रहते हैं और इन्हीं के कारण ऐसा होता है।

पिछले अध्याय में हम पूँजीवादी उत्पादन की दो विशेषताओं के विषय में पढ़ चुके हैं। एक ओर तो उत्पादन के साधन विकसित और उन्नत होते चले जाते हैं जिससे उपभोग्य माल (Consumer's goods) को पैदा करने की क्षमता दिनोंदिन अधिक होती जाती है और दूसरी ओर तैयार भोग्य माल को खरीदने की ताकत दिनोंदिन कम होती जाती है। परिणाम यह होता है कि मुनाफे के साथ माल को बाजार में बेचना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि आखिर में जाकर इस व्यवस्था का चलना ही असंभव हो जाता है। जब तैयार माल बाजार में निकल नहीं सकता, तो वह गोदामों में जमा होने लगता है। कीमतें गिरने लगती हैं।

अपेक्षाकृत छोटे-छोटे व्यापारी नुकसान के चक्कर में आने लगते हैं। बहुत-से उद्योगपति दिवालिये बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में उत्पादक माल (Producer's goods) की माँग भी कम हो जाती है। क्योंकि जब भोग्य माल की जरूरत नहीं तब भोग्य माल तैयार करनेवाले उत्पादक माल को क्यों खरीदा जाय; अत: इसकी माँग भी कम होने लगती है। पिछले वर्षों में भोग्य माल की अपेक्षा उत्पादक माल की बाजार में अधिक खपत हुई। इसलिये भोग्य माल की कमी बाजार में आना स्वाभाविक है। इस प्रकार घाटा और दिवालियापन हमेशा बढ़ता जाता है। उत्पादन नीचे गिर जाता है और लाखों लोग बेरोजगार हो जाते हैं। देश एक आर्थिक संकट में फँस जाता है।

इसमें मुद्रा और साख-संकट और मिल जाता है। कीमतों का नीचे गिरना घाटे की संभावना पैदा करता है। इसलिये पूँजीपति अपने माल को बेचने के लिये बेचैन हो उठते हैं; अपने स्वामित्व को हटाने के लिये व्याकुल हो उठते हैं। लेकिन मौजूदा कीमत पर उसे लेने को कोई तैयार नहीं होता। इसका प्रभाव विनिमय-मुद्रा पर पड़ता है। प्रतिभूति या सिक्योरिटीज की कीमत भी बड़ी तेजी से नीचे गिरने लगती है। बैंकों के सामने प्रश्न खड़ा हो जाता है। उद्योगपतियों से बैंकों का कर्ज वसूल करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार बहुत-से बैंक भी ठप्प हो जाते हैं। समस्त मुद्राजाल, वाइदे,

ठेके सब नीचे गिरने लगते हैं जिससे कि यह आर्थिक संकट और अधिक गंभीर हो जाता है।

संकटों की इस सूची में कृषि-संकट और शामिल हो जाता है। ज्यादा लोगों की खरीदने की ताकत गिरने के कारण गल्ले की माँग भी गिर जाती है और इधर औद्योगिक उत्पादन में कमी होने से खाद्य और कच्चे माल की माँग में कमी हो जाती है। नतीजा यह होता है कि कृषि-उत्पादन की कीमतें बड़ी तेजी से गिरने लगती हैं। लाखों किसान और खेतिहर बरबाद हो जाते हैं। यह कृषि-संकट में और अधिक बरबादी बरपा कर देता है। इसके कई कारण हैं :—

(१) खेती करनेवाले व्यक्तिगत रूप से छोटे-बड़े लाखों किसान होते हैं, जो पूँजीपतियों के समान खेती की कीमतों की मंदी को रोकने के लिये कोई संगठित प्रयत्न नहीं कर सकते।

(२) प्रत्येक पूँजीवादी देश में उद्योगपतियों, व्यापारियों और उच्च-मध्यम वर्ग का देश की राजनीति पर बड़ा प्रभाव रहता है। इसलिये ऐसे राज्य किसानों की मदद करने की अपेक्षा पूँजीपतियों को उबारने की अधिक चिन्ता करते हैं।

(३) अन्तिम कारण यह है कि खेती प्रायः ऐसे देशों में होती है, जो राजनीतिक दृष्टि से अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों के असर में होते हैं। इसलिये जब आर्थिक संकट को दूर करने की बात आती है, तो औद्योगिक माल की

कीमतों की रक्षा खाद्य-सामग्री को नुकसान पहुँचाकर भी की जाती है।

इस प्रकार पूँजीवाद के युग में कृषि और उद्योग-धन्धों को कभी-कभी बड़ी चोट लगती है। मुद्रा फेल होने लगती है। और तब व्यावसायिक संकट भी शीघ्र उपस्थित हो जाता है जिससे रोजगार की मात्रा और वजन दोनों में अन्तर पड़ जाता है। हम देखेंगे कि थोड़े दिनों में इसके विरोधी तत्त्व स्वयं इसका गला पकड़कर दबोच लेते हैं। समस्त पूँजीवादी दुनिया में एक घोर अंधकार और गड़बड़ी छा जाती है। उत्पादन बहुत गिर जाता है। लाखों व्यक्ति भूखों मरने लगते हैं। उत्पादक साधन बेकार पड़ जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि मेहनत करके खानेवाले लाखों लोग भूखों मरने लगते हैं। बेकार लोग बिना साधनों के होकर दर-दर भीख माँगने लगते हैं। निस्संदेह आम जनता को बड़े दुख और कष्ट का शिकार होना पड़ता है।

वाद-विवाद होते हैं। योजनाएँ बनायी जाती हैं। सवाल आता है कि किस प्रकार हालत को इस तरह मोड़ा जाय कि क्रय-विक्रय में लाभ होने लगे। जब तक चीजों की कीमतें फिर नहीं उठतीं, हालत नहीं सुधरती और पूँजीवाद जिन्दा नहीं रह सकता।

ऐसी हालत में संकट से उबरने का एक ही उपाय रह जाता है कि कीमतों को बढ़ाकर और लागत खर्च को कम

करके उत्पादन को लाभकारी बनाया जाय। संकट स्वयं ऐसी हालत पैदा कर देता है कि जिससे यह संभावना बढ़ जाती है और पूँजीवाद का भविष्य और अधिक निराशाजनक दिखलाई देने लगता है। इसलिये पूँजीवादी वर्ग उन सारे सम्भव उपायों पर विचार करने के लिये तैयार हो जाता है जिनसे उस वर्ग के हितों की रक्षा हो सके। इन विचारों का फल यह होता है कि एक ओर कीमतें चढ़ने लगती हैं और दूसरी ओर लागत खर्च गिरने लगता है। वस्तुओं की कीमतें चढ़ाने के लिये बाजार में माल की कमी दिखलाना पड़ता है। इस कमी को लाने के लिए नीचे लिखे उपाय किये जाते हैं :—

(१) मौजूदा स्टॉक को बरबाद करके

कुछ तो कीमतों के मंदे होने से जमा माल का हिस्सा अपने आप गोदामों में पड़ा-पड़ा खराब हो ही जाता है। और इस उत्पन्न माल का अधिकांश मालिकों या उत्पादकों द्वारा जान-बूझकर बरबाद कर दिया जाता है। हमने इसके कुछ उदाहरण पिछले पन्नों में दिये हैं।

(२) पैदावार को घटाकर

संकट की चोट से घबराकर सैकड़ों पूँजीपति दिवालिया बनकर उत्पादन बन्द कर देते हैं। कुछ लोग गिरती कीमतों के डर से, सम्भावित नुकसान के डर से उत्पादन को कम कर

देते हैं। सैकड़ों कल-कारखाने और दूकानों में ताला पड़ जाता है। हजारों दूसरे कल-कारखाने सिर्फ कुछ समय के लिये काम करने लगते हैं। लाखों एकड़ जमीन बिना खेती के छोड़ दी जाती है। इन सबका असर यह होता है कि बाजार में माल का आना ही बन्द हो जाता है।

(३) उत्पादन को घटाकर

उद्योग के जिन क्षेत्रों में संकट पैदा हो जाता है, वहाँ संकट के कारण एकाधिकारवाले मालिक स्वयं उत्पादन की मात्रा पर नियंत्रण रखते हैं। एक विशेष मात्रा से अधिक माल तैयार ही न किया जाय। प्रायः स्वयं सरकार भी ऐसे मालिकों को उत्पादन घटाने का आदेश देती है। ब्रिटेन में सन् १९३० में कोयले के उत्पादन पर स्वयं सरकार ने नियंत्रण लगाया था। सन् १९३१ में बहुत-से देशों में नियंत्रण-कानून द्वारा बहुत-सी चीजों के उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबंध लगाया गया था। सन् १९३४ में इसी प्रकार दुनिया में रबर का उत्पादन कम कर दिया गया था। 'संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में सरकार ने किसानों को बहुत-सा धन केवल इसलिये दिया था कि वे रूई और गेहूँ की पैदावार थाम दें!

(४) आयात पर रोक—निर्यात को प्रोत्साहन

जो माल बाजार में पट गया है, उसे हर सम्भव उपाय से देश के बाहर भेजने की कोशिश की जाती है। मुद्रा-मूल्य

में कमी करके, व्यावसायिक संधियाँ करके और माल को खरीदने के लिये कर्ज देकर निर्यात को बढ़ावा दिया जाता है। दूसरी ओर आयात-संबन्धी नियमों को और अधिक कठोर बनाकर बाहर से सामान का आना रोका जाता है। इस प्रकार सभी संभव उपायों द्वारा स्थानीय बाजार के क्षेत्र को पूँजीवादी व्यवसायियों के लिये सुरक्षित बनाया जाता है।

माल की माँग बाजार में बढ़े, इसके लिये जरूरी है कि लोगों की माल खरीदने की ताकत बढ़े। माल खरीदने की ताकत बढ़ाने के लिये मुद्रा-प्रसार की नीति को अपनाया जाता है। चलन में ज्यादा-से-ज्यादा पैसा डाल दिया जाता है। राष्ट्रीय साख को बढ़ाने की पूरी कोशिश की जाती है। इसके लिये मुद्रा का मूल्य गिराया जाता है। कम व्याज पर बैंकों और उद्योग-पतियों को कर्ज दिया जाता है। सार्वजनिक निर्माण के कामों द्वारा धन-वितरण को अधिक व्यापक बनाया जाता है। इसका असर जनता की क्रय-शक्ति पर पड़ता है। और क्रय-शक्ति की वृद्धि बाजार में माल की माँग को बढ़ा देती है। दूसरी ओर उत्पादन-व्यय (Production-charges) को घटाने की कोशिश होती है। और व्यय को घटाने के इस चक्र में नीचे लिखी बातें सहायक होती हैं।

(१) कम उत्पादन के केन्द्रों को बन्द करना

संकट काल की प्रतियोगिता में न ठहर सकनेवाले छोटे और अविकसित व्यवसाय-केन्द्र तो अपने-आप बन्द हो जाते

है। केवल वे ही उद्योग-धन्धे ऐसे समय में भी कायम रहते हैं जिनके पास अति उन्नत मशीनें हैं और जो संकट के दिनों में भी लाभ कर सकते हैं। इसके अलावा शेष उद्योग उत्पादन में 'आवश्यकता' के सिद्धान्त को मानकर चलने लगते हैं। अधिक अच्छी मशीनों और विकसित साधनों को अमल में लाने की कोशिश की जाती है। इससे उत्पादन-व्यय कम हो जाता है।

(२) मजदूरी को कम करके

कल-कारखानों के बन्द होने से बहुत-से मजदूर बेकार हो जाते हैं; अत: मजदूरों की एक बड़ी संख्या काम के लिये भटकती है। इनकी असमर्थता से लाभ उठाकर चालू कल-कारखाने उन्हीं मजदूरों को कम मजदूरी पर नौकर रखते हैं। और जरूरत इन्हें यह कम मजदूरी मंजूर करने को विवश करती है। इस प्रकार संकट काल के बोझ को उद्योगपतियों के सिर से उतारकर मजदूरों के सिर पर डालने की पूरी कोशिश पूँजीवादी सरकार और पूँजीपति करते हैं।

(३) व्याज की दर को कम करके

मंदी के दिनों में अधिक लाभ के अभाव में उद्योगपति बैंकों से ऊँची दर पर कर्ज लेना नहीं चाहते ; इससे व्याज की दरें गिर जाती हैं। उद्योग-धन्धों में लगनेवाला बैंकों का रुपया स्थिर हो जाता है ; इसलिये कम व्याज पर निकालने की चेष्टा

बैंक-मालिक करते हैं। व्याज की दरें गिरने से उत्पादन-व्यय में और कमी हो जाती है।

(४) उपरि व्यय में कमी (Over head charges)

कीमतों के गिरने से व्यापारी और मिल-मालिक जो खर्च विज्ञापन और प्रचार आदि में करते थे, उसे रोक देते हैं। इस प्रकार उत्पादन-व्यय में कुछ अंश तक और कमी हो जाती है। खर्चे की यह थोड़ी-थोड़ी कमी उत्पादन व्यय को काफी कम कर देती है।

उपर्युक्त उपायों के अलावा कीमतों को फिर से ऊपर ले जाने में युद्ध का सबसे बड़ा हाथ रहता है। अस्त्र-शस्त्र की माँग चीजों की कीमत को बढ़ा देती है। ऊपर जिस संकट का वर्णन हमने किया है, उसके दो प्रधान कारण हैं। प्रथम तो उत्पादन के साधनों का बड़ी तेजी से बढ़ना और दूसरे जनता की आवश्यक क्रय-शक्ति का कम होते जाना। इससे उत्पन्न या तैयार माल को बाजार मिलना मुश्किल हो जाता है। परन्तु युद्ध और शस्त्रीकरण इन दोनों कारणों को कुछ समय के लिये खत्म कर देते हैं, यानी तैयार माल की खपत बढ़ जाती है। आधुनिक युद्ध के लिये अनाप-शनाप युद्ध-सामग्री की जरूरत पड़ती है; इसलिये उत्पादक साधनों का बहुत बड़ा भाग लड़ाई का सामान तैयार करने में लग जाता है। तैयार माल स्वयं सरकार खरीद लेती है। और उधर

अधिक आदमियों को लड़ाई में काम मिलने के कारण लोगों के हाथ में पैसा खूब आता है और इससे इनके खरीदने की ताकत भी बढ़ जाती है। और चूँकि, उत्पादक साधनों का एक बड़ा भाग दूसरे काम में लग जाता है, इसलिए बाजार इन उपभोग्य वस्तुओं (Consumer's goods) के दबाव से बच जाता है, जो कि अन्यथा असम्भव था। इस प्रकार समाज की इस पूँजीवादी संकट से रक्षा हो जाती है और इस रक्षा के प्रधान कारण हैं युद्ध और शस्त्रीकरण। साथ ही साथ युद्ध-काल में वेतन और बाजार से माल खरीदने की शकल में अरबों रुपया देश में बँट जाता है। इससे जनता की क्रय-शक्ति खूब बढ़ जाती है। और संकट के दूसरे पहलू की भी रक्षा हो जाती है। इन सब बातों को देखकर प्रत्येक विचारक इसी नतीजे पर पहुँचता है कि पूँजीवादी प्रथा को ऐसे संकटों से उबारने के लिये लाखों नौजवानों का खून, असीम धन-दौलत की बरबादी और आये दिन के युद्ध अनिवार्य हैं। अमेरिका में यह पूँजीवादी व्यवस्था लोगों की आवश्यकता के अनुसार चीजें तैयार करने के काम में बिल्कुल अयोग्य साबित हो चुकी है। सन् १९२९ के आर्थिक संकट ने इस सारी आर्थिक रचना की जड़ें हिला दीं। १९२९ ई० में जहाँ औद्योगिक उत्पादन, ११० था १९३२ में सिर्फ ५८ ही रह गया था। रूजवेल्ट के खर्चीले शासन के सारे प्रयोग भी उत्पादन को १९२९ की लेविल तक न ला सके। इसके बाद शस्त्रीकरण

की विशाल योजना शुरू हुई और फिर सन् ४१ का युद्ध। सारा आर्थिक ढाँचा एक बार फिर संकट के पंजे से मुक्त हुआ और युद्ध के आश्चर्यजनक नतीजे दिखलाई पड़ने लगे। शान्ति-काल के दस वर्ष जिस बात को न कर सके, उसे युद्ध के चार वर्षों ने कर दिखाये और सन् १६२६ की उत्पादन-क्षमता बढ़ते-बढ़ते सन् '४३ में ११० के बजाय ३०४ तक पहुँच गयी। इस प्रकार उत्पादन-वृद्धि का मूल कारण था युद्ध-सामग्री का उत्पादन।

ऊपर बताई गई ताकतों के असर से राष्ट्र के उद्योग-धन्धे फिर एक बार लाभप्रद हो जाते हैं। देश की आर्थिक अवस्था स्वस्थ होने लगती है। पूँजीपतियों की असीम लाभ-प्राप्ति की सूखी आशाएँ फिर एक बार हरी हो उठती हैं। व्यवसाय में नई जान आ जाती है। मुद्रा और साख में बढ़ती हो उठती है। चीजों की कीमतें बढ़ने लगती हैं। और इससे उत्पादन में भी वृद्धि हो उठती है। परन्तु पूँजीवाद हमेशा के लिये इससे मजबूत हो गया, ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए। इसके विरोधी तत्त्व भी उतनी ही ताकत से काम करने लगते हैं। एक बार फिर उत्पादक साधन (Means of production) इतनी तेजी से बढ़ने लगते हैं कि उनके द्वारा उत्पन्न माल को बाजार समेट नहीं पाता; आखिर में फिर नया संकट सामने आ जाता है। सारी आर्थिक रचना फिर अस्त-व्यस्त होने लगती है। मंदी का एक नया दौर शुरू होता है।

इस परीक्षा के बाद हम यह कह सकते हैं कि पूँजीवाद

की वृद्धि एक-सा या सीधी लाइन में नहीं होती। यह हमेशा वृत्ताकार चलती है। उबार, उन्नति. बढ़ाव, जोर, संकट और गिराव इसकी चाल की अवस्थाएँ हैं। कुछ वर्ष तक बढ़ते रहने के बाद इसकी चाल संकट और मंदी से रुक जाती है। पूँजीवादी देशों के इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है। चूँकि आज का आधुनिक पूँजीवाद बहुत व्यापक हो चुका है, उसकी अलग-अलग कड़ियाँ विभिन्न देशों में फैली हैं; इसलिये संकट भी एक देश तक ही सीमित न रहकर दूसरे देशों तक जा पहुँचता है। और एक विश्व-व्यापी संकट का रूप हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। सन् १९२९-३१ के संकट-काल ने लगभग सारी दुनिया को अपने असर से तबाह कर रखा था।

एक बात और है, यह आर्थिक संकट पूँजीवादी व्यवस्था की एक अटल घटना है। जो लोग ऐसा सोचते हैं कि यह संयोगवश कभी-कभी आता है, वे गलती करते हैं। पूँजीवाद कभी भी इसके लौहपंजे से बच नहीं सकता। जब-जब पूँजीवाद फलने-फूलने लगता है, इसके पोषक चिल्लाने लगते हैं कि अब यह समृद्धि और सुख अमर हो गया—अब कभी संकट पैदा न होगा। पर यह सपना अधिक लम्बा नहीं होता। परिस्थितियों के थपेड़े पड़ते हैं, और एक बार सब जमा-जमाया ढाँचा गिर जाता है। सन् १९२९ के पहले अमेरिका के लोग अनन्त समृद्धि में विश्वास करने लगे थे और 'स्वर्ण-युग' की मीठी कल्पना में विभोर थे। लेकिन शीघ्र ही भयंकर

आर्थिक संकट सामने आकर खड़ा हो गया। बेकारी और मंदी का जाल फैल गया। अमेरिका में कभी भी इस तरह की आर्थिक स्थिरता नहीं आयी थी जैसी कि सन् १६२६ और ३१ में।

सन् १६१४ तक बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों के दिमाग में यह विश्वास भरा था कि अभी 'पूँजीवाद' और ऊपर चढ़ेगा, उसके विकास और उन्नति की सारी संभावनाएँ खत्म नहीं हो गयी थीं, अभी तक का पूँजीवादी इतिहास का यह कहना था कि पूँजीवाद सन् १४ तक दो कदम आगे बढ़ा और फिर एक कदम पीछे हटा। लेकिन १६१४ के बाद पूँजीवाद ने एक नये संकट के युग में प्रवेश किया। इस समय तक इसकी अवनति और गिराव शुरू हो गया था और आगे विकास की सारी संभावनाएँ भी खत्म हो चुकी थीं। सन् १६२६-३१ के संकट के समान दूसरे आर्थिक संकट का दुनिया ने कभी अनुभव न किया था। किन्हीं देशों में तो बहुत पहले से ही आर्थिक स्थिरता आ गयी थी। इस सन् २६-३१ की मंदी और गिराव ने लाखों आदमियों को बेकार कर दिया। सच बात तो यह है कि उद्योग-धन्धों के बढ़ती के दिनों में पूँजीवादी देशों में बेकारों की संख्या कम नहीं रहती। इङ्गलैण्ड में तो यह संख्या सन् २६ के बाद कभी १० लाख से कम ही नहीं हुई। कुल मजदूरों की संख्या का १२·२ प्रतिशत इङ्गलैण्ड और २३·३ प्रतिशत जर्मनी में बेकार हो गये थे। अमेरिका में तो यह संख्या और भी ऊपर चढ़ गयी थी।

प्रथम महायुद्ध के बाद यह पहला संकट था जिसने एक बार सारे अर्थ-शास्त्रियों और राजनीतिज्ञों का ध्यान वस्तुस्थिति के परीक्षण की ओर खींचा। बहुत लोग 'पूँजीवाद' पर प्रश्न-चिह्न लगाने लगे। यह संकट सार्वदेशिक था। केवल अमेरिका और इङ्गलैण्ड में ही इसके दुष्परिणाम नजर नहीं आते थे, वरन् अविकसित पूँजीवादी देश—जैसे रोमानिया, पोलैण्ड और दक्षिण-पूर्वी यूरोप भी इसके बुरे असर से न बचे थे। आगे या पीछे सभी इसके शिकार हुए थे। सारी पूँजीवादी दुनिया को इसने अपनी काली छाया के नीचे ले लिया था। एक भी देश इसके चंगुल से न बचा था। अमेरिका तो वर्षों तक इस संकट से मुक्त न हो सका। वहाँ तो औद्योगिक उत्पादन की कीमतें ही नीचे नहीं गिरीं, वरन् कृषि-उत्पादन की कीमतें भी ६०% नीचे गिर गयीं। एक साधारण किसान की औसत आमदनी सन् १९२९ में ८४७ डालर थी। सन् १९३२ में यह आमदनी ३४२ डालर ही रह गयी थी। यह हालत थी दुनिया के सबसे धनी देशों की।

नीचे जो आँकड़े दिये गये हैं, वे इस बात के पोषक हैं :—

	सन् १९२९	—३०	—३१	—३२	—३३
अमेरिका	१००	८०·७	६८·१	५३·८	६४·९
इङ्गलैण्ड	१००	९२·४	८३·८	८३·८	८६·१
जर्मनी	१००	८८·३	९१·७	५९·८	६६·८
फ्रांस	१००	१००·७	८९·२	६९·१	७७·४

इस औद्योगिक गिराव के साथ-साथ राष्ट्रीय आय और राष्ट्रीय सम्पत्ति के अंक भी बहुत-से देशों में बहुत नीचे चले गये थे :—

	राष्ट्रीय सम्पत्ति		राष्ट्रीय आय	
	१९२९—१९३१		१९२९—१९३१	
अमेरिका	४००	२४०	९०	५४
इङ्गलैण्ड	११५	६९	१९	११
जर्मनी	८०	४८	१५.५	९.३
फ्रांस	६८	५१	९	६.७
इटली	३०	१८	५.०	३.०

इन सारे देशों में, संकट के इस युग में हजारों पूँजीपति दिवाला निकाल बैठे थे। इनकी संख्या नीचे दी जाती है :—

दिवाला निकालनेवाले धनियों या कम्पनियों की संख्या

	१९२९	१९३०	१९३१	१९३२
अमेरिका	२२९०९	२९३५५	२९२८८	३१८८२
इङ्गलैण्ड	५९००	६२८७	६८१८	७३२१
जर्मनी	९८४६	१५४८६	१९२५४	१३९६६
फ्रांस	६०९२	६२४७	७२२०	९०१४

इस व्यावसायिक गिराव के साथ-साथ बेकारी भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। सिर्फ इङ्गलैण्ड में ४० लाख से अधिक लोग बेकार हो गये थे। जर्मनी में यह संख्या ५० लाख से कम न होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय और रोजगार में भी बहुत कमी हो गयी थी। प्रत्येक देश का विदेशी व्यापार मात्रा और मूल्य दोनों में कम हो गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि बाजार पाने के लिये बहुत-से राष्ट्रों में पारस्परिक संघर्ष शुरू हो गया। हरएक देश यह चाहता था कि उनके तैयार माल के लिये विदेशी बाजार मिले। प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र भले-बुरे तरीकों से अपने प्रभुत्व को बढ़ाने में जुट गये। और, यहीं से उस पारस्परिक घृणा, विद्वेष और शत्रुता की नींव पड़ती है जिसके भीतर से दो महायुद्धों का जन्म हुआ। इसके साथ ही एक सिक्का के क्षेत्र में एक कड़ुवी लड़ाई भी शुरू हो गयी। इङ्गलैण्ड और अमेरिका दोनों ने अपने सिक्कों का मूल्य बढ़ा दिया; इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में और बाधा पड़ी।

इस प्रकार असंख्य बाधाओं और मंदी ने पूँजीवादी देशों के सभी मौलिक (Key) उद्योग-धन्धों को ४० वर्ष पीछे फेंक दिया। यहाँ से पूँजीवाद की गति पीछे को मुड़ती है। प्रथम महायुद्ध के साथ जो महासंकट शुरू हुआ था, उसकी जड़ें बहुत दूर तक जा चुकी थीं।' यह संकट पूर्व सभी संकटों की अपेक्षा अधिक व्यापक और गंभीर था। क्योंकि इसकी उन्नति और फैलाव के साथ-साथ इसके दुष्परिणाम भी फैल रहे थे। सन् १९२९ के पहले कई बार ऐसे आर्थिक संकट आये, पर वे इतने जोरदार न थे।

संकट की इस हालत में कोई भी देश अपने उत्पादक

साधनों का पूरा इस्तेमाल नहीं कर सका। अमेरिका और इंगलैण्ड दोनों देशों को अपने बहुत-से उत्पादनों की काफी कमी कर देनी पड़ी थी। अमेरिका की कोयले की खदानें अब केवल ६८% कोयला निकालती थीं। तेल-कुओं से अब पहले की अपेक्षा सिर्फ ६७% तेल ही लिया जाता था। सूती मिलें अब केवल ३६% माल तैयार करती थीं। बहुत-से उद्योगों का औसत उत्पादन और भी कम कर दिया गया था। खड़े-खड़े मशीनें खराब होने लगीं। बिना जोते खेत बंजर पड़ गये। इस प्रकार राष्ट्रीय सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग बरबाद और बेकार हो गया; खून और पसीने के जोर पर तैयार किये गये उत्पादन के साधनों में जंग लगने लगी। नतीजा यह हुआ कि बन्द रहने के कारण वे सारी मशीनें खराब हो जाती हैं।

बहुत-से दूसरे देशों की अपेक्षा हिन्दुस्तान पर तो इस संकट की मार और जोर से पड़ी। किसी भी देश की चीजों की कीमतें यहाँ ज्यादा गिरीं। सन् १६२६ के समय की कीमतों में ४४·३% प्रतिशत की कमी हो गयी थी जब कि इंगलैण्ड, अमेरिका और जापान में यह गिराव सिर्फ ३०·४, ३८ और ३५·८ ही था। लेकिन इससे भी अधिक दुर्भाग्य और अमंगल की बात यह हुई कि कारखानों के माल से भी अधिक सस्ता गल्ला और कच्चा माल बिकने लगा। इनकी कीमतें अपेक्षाकृत बहुत नीचे गिर गयीं। देश का आर्थिक

जीवन इस चोट को बरदाश्त नहीं कर सका। गाँवों की रीढ़ टूट गयी। गल्ले और कच्चे माल की कीमतें उतरने से देश को जो पैसा बाहर से मिलता था, वह एकदम कम हो गया जब कि दूसरी ओर उत्पादक साधनों की कीमतों की बचत से देश को अधिक लाभ न हुआ। सन् १९२९ में देश को गल्ले और कच्चे माल के बदले में जो पैसा बाहर से मिलता था, उसमें सन् ३३ में ५१% प्रतिशत की कमी हो गयी; जब कि आयात यों आनेवाले माल पर सिर्फ २७% की ही कमी हुई। उद्योग-प्रधान देशों की अपेक्षा कृषि-प्रधान हिन्दुस्तान पर इस संकट की चोट अधिक पड़ी। उस समय की विदेशी सरकार जनता के इस संकट को कम करने के लिये उत्सुक भी न थी। छोटे-छोटे किसान और दस्तकारों का कोई मजबूत संगठन न था, जो इसका डटकर मुकाबिला करता। वे इन चीजों को समझते भी न थे। इसलिये हालत ज्यों की त्यों कायम रही। पैदावार में कमी कर दी गयी। मजदूरी बहुत ज्यादा कम हो गयी। बेकारी बेहद बढ़ रही थी। इस देश में उस समय एक ग्रेजुएट को १५)-२०) मासिक पर बड़ी आसानी से रखा जा सकता था। कालेज से निकलनेवाले बहुत-से नौजवान पुलिस के सिपाहियों में भर्ती होते थे। आत्म-हत्याओं की संख्या बढ़ रही थी। लगान और कर्ज के बोझ से किसानों की कमर टूट रही थी। बहुत-से किसानों को लगान चुकाने के लिये अपनी जमीन और जेवर तक बेच

देना पड़ा। इस संकट-काल में बेवशी से बेचा गया ३६० करोड़ का सोना विदेशों को चला गया। काम न मिलने से 'खेत' के लिये होड़ लगनी शुरू हो गयी। जमीन ही एकमात्र निर्वाह का साधन रह गयी थी; इसलिये पैदावार का सारा हिस्सा जमींदार को देकर भी किसान किसी तरह 'खेत' पाने की मृग-आशा के पीछे पागल हो रहे थे। बहुत-से किसान कर्ज में डूब गये। सहयोग समितियों (Co-operative societies) के आन्दोलन को इससे बड़ा धक्का पहुँचा। लाखों लोग भूखों मरने लगे। देश के इतिहास में ऐसी मुसीबत कभी न आयी थी।

आखिर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पूँजीवाद के दोष और उसकी बेहुदगियाँ उसके समान विकास में हमेशा बाधक होती हैं। इसीलिये उसकी उन्नति एक-सी न होकर झटके के साथ होती है। यह सीधी लकीर पर कभी नहीं चलता। मंदी और महँगाई इसके अनिवार्य पहलू हैं। कुछ वर्ष ठीक चलने के बाद एकाएक सारा आर्थिक ढाँचा अधिकार से बाहर हो जाता है। सारे उत्पादक साधन बेकार पड़ जाते हैं जब कि साधारण आदमी अपनी नितान्त आवश्यक जरूरतें भी पूरी नहीं कर पाता। तैयार माल या तो पड़ा-पड़ा सड़ता है या उसे जान-बूझकर नष्ट कर दिया जाता है। सम्पत्ति और साधन-सामग्री बरबाद होने लगती है। लाखों आदमी चाहते हुए भी अपनी जीविका को ईमानदारी से चला नहीं पाते।

जंग और नर-संहार के लिये लोग प्रार्थना करते हैं, मनौतियाँ मानते हैं, जिससे कि एक बार इस पूँजीवादी संकट से उबरने का उन्हें मौका मिले। प्रत्येक संकट के बाद पूँजीवाद जब-जब ऊपर आया है, इसके दोष और विरोधी तत्त्व भी अधिक पैने और प्रबल हुए हैं। देश का आर्थिक जीवन स्थिर हो जाता है। उसमें गति नहीं रहती। तेजी के दिनों में भी बहुत-से उत्पादक साधनों को ऐसा माल तैयार करने में नहीं लगाया जाता जिसकी गरीबों को सख्त जरूरत है। इस तरह कुछ समय तक आगे बढ़ते रहने के बाद फिर एक झटका लगता है और सारी व्यवस्था फिर वर्षों पीछे फेंक दी जाती है।

इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था के दो नतीजे होते हैं। ये नतीजे बड़े खतरनाक और हानिकारक हैं। प्रथम तो इस प्रकार की व्यवस्था में सुरक्षा (Security) नाम की कोई चीज नहीं रहती। व्यक्ति को हमेशा यह डर लगा रहता है कि न मालूम कब उसकी नौकरी छूट जाय। न मालूम कब कारोबार की यह गाड़ी बन्द हो जाय। या कहीं मालिक ही अप्रसन्न होकर उसे काम से न हटा दे। या लाभ होता न देख स्वयं मालिक अपना कारखाना ही बन्द न कर दे। या स्वयं सरकार उद्योगपतियों को संकट-काल में उद्योग बन्द करने के लिये न कह दे। यह अभाव का भय, जो अभाव से अधिक भयंकर है, हमेशा लोगों के दिमाग को परेशान रखता है। इससे मेहनतकशों (श्रमिकों) का जीवन एक अनवरत

नरक का जीवन बन जाता है। पीड़ा और मानसिक क्षोभ उन्हें खा डालता है। सिर्फ मनोविज्ञानवेत्ता ही यह बता सकते हैं कि इस अनिश्चितता का कितना बुरा प्रभाव श्रमिक के मन और शरीर पर पड़ता है।

दूसरा फल यह होता है कि इस व्यवस्था से उत्पन्न असंतोष और विषमता सुन्दर और सुखी संसार को बना सकने की मीठी कल्पना को हमेशा के लिये खत्म कर देती है। पूँजीवाद दुनिया हमेशा घटती है, बढ़ती नहीं। परिणाम यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के साधन नहीं जुटा सकता। मानव-उन्नति के सारे प्रयत्न और अवसर इस ठेकेदारी प्रथा से खत्म हो जाते हैं। चारों ओर घोर निराशा छा जाती है। वैज्ञानिक देखता है कि जो आविष्कार उसने मानव-हित और लोक-कल्याण के लिये किये थे, उनका दुरुपयोग मानव-संहार और लोक-नाश के लिये हो रहा है—भला यह देखकर भविष्य में क्या वह और आविष्कार करने की बात सोचेगा! अपने द्वारा बनाये गये विशाल भवन खाली देखकर कौन कलाकार प्रसन्न होगा? भूख और गरीबी से जर्जर शरीर से पढ़ाते समय कौन शिक्षक सुखी होगा? इस प्रथा की असफलताएँ, कमजोरियाँ, खामियाँ और बेहूदगियाँ आज इसे खत्म करने के लिये लोगों को पुकार रही हैं, ताकि इसकी राख के ऊपर से हम एक श्रेष्ठ, ठोस आर्थिक समाज की रचना कर सकें, जहाँ श्रम की इज्जत हो; आलस्य से घृणा।

जहाँ निठुल्ला कोई न हो। हरएक इन्सान काम करे और हरएक इन्सान को जीवन की आवश्यक सुविधाएँ मिलें—ऐसा समाजवादी समाज ही इस महारोग की एकमात्र औषधि है। और इसी के हाथों मानव-सभ्यता के वे स्वप्न पूरे होंगे जिनके लिये वह युग-युग से प्रयत्नशील रहा है। इसके ऊपर के सामाजिक स्तर का नाम समाजवाद है। केवल इसी में आज मानव-विकास की बाधाओं को चूर करते हुए आगे हमें उस लक्ष्य तक ले जाने की ताकत है जिसकी चर्चा हमने प्रथम अध्याय में की है।

पूँजीवाद से साम्राज्यवाद

६

१६वीं सदी में दुनिया के प्रत्येक देश में पूँजीवाद ने अपने अड्डे बना लिये थे। इस समय तक यह पूरी तरह से बढ़ चुका था। पर सब देशों में इसकी प्रगति एक-सी नहीं थी। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में पूँजीवाद का सबसे पहले विकास हुआ था। कुछ पिछड़े हुए देशों में यह बाद में पहुँचा। पूर्व-यूरोप और एशिया के देशों में भी इसके कदम पीछे से पड़े। पूँजीवाद के श्रेष्ठतम स्वरूप औद्योगिक पूँजीवाद ने ही अपने सर्वांगीण विकास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। और, इसीलिये इस जमाने को औद्योगिक पूँजीवाद का नाम दिया गया है।

कुछ और आगे चलकर इसके हाथ-पैर और फैले। यहाँ तक कि २०वीं सदी के शुरू में इसने साम्राज्यवादी नामक एक नई अवस्था में प्रवेश किया। साम्राज्यवाद पूँजीवाद के विकास की एक नयी और अन्तिम अवस्था है। लेकिन एक प्रकार से यह अवस्था भी औद्योगिक पूँजीवाद के पूर्व की अवस्था का एक सिलसिलामात्र था। इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ थीं।—

(१) उत्पादन का एकाग्रीकरण (Concentatrion)

और पूँजी का विकास एक ऐसी अवस्था तक हुआ जहाँ पहुँचकर इसके भीतर से एकाधिकार नामक (monopoly) एक नई व्यवस्था का जन्म हुआ। व्यवसाय में इस एकाधिकार का किसी भी देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है।

(२) बैंक पूँजी के औद्योगिक पूँजी के साथ मिलने से समाज में अर्थ-पूँजी के आधार पर एक नये अर्थवादी अल्प जनसत्तात्मक राज्य की सृष्टि होती है।

(३) पण्य या पदार्थों के निर्यात से भिन्न पूँजी का स्वयं निर्यात इस युग की अपनी एक अलग विशेषता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी एकाधिकार संस्थाओं की स्थापना और दुनिया को अपने-अपने हिस्से में बाँट लेना।

(५) पूँजीवादी शक्तियों द्वारा सारी दुनिया में अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र कायम करना।

इन सारी विशेषताओं का अब अलग-अलग परीक्षण करना आवश्यक है।

(१) एकाधिकार का प्रभाव

इस औद्योगिक पूँजीवाद के जमाने में ही मुक्त-व्यावसायिक प्रतियोगिता शुरू होती है। प्रत्येक पण्य या पदार्थ या वस्तु का उत्पादन ऐसे स्वतंत्र उत्पादकों के हाथ में चला जाता है, जो एक दूसरे को प्रतियोगिता में पछाड़ देना चाहते हैं। लेकिन धीरे-धीरे यह प्रतियोगिता एकाधिकार में बदल जाती है।

प्रतियोगिता में पिछड़नेवाले उद्योगपति अपना उद्योग बन्द करते जाते हैं और आखिर में विशेष पण्यों का उद्योग कुछ लोगों के हाथों में ही रह जाता है। प्रतियोगिता की इस दौड़ में बड़े पूँजीपति छोटे पूँजीपतियों को पछाड़ते जाते हैं। नतीजा यह होता है कि व्यवसाय के क्षेत्र में छोटे-छोटे टुटपुँजिये उद्योगपतियों के स्थान पर चन्द महाउद्योग-वीर सामने रह जाते हैं। उत्पादन के तरीकों की वैज्ञानिक उन्नति इस बात में और सहायक होती है। नित नये शिल्प-कला और विज्ञान (Technological) के अच्छे-अच्छे आविष्कारों के कारण पूँजीपतियों के लिये अपने कारोबार में अतुल सम्पत्ति लगाना जरूरी हो गया। क्योंकि एक छोटा कारखाना बड़े पैमाने पर उत्पादन के आधुनिक प्रयोगों को अमल में ला नहीं सकता। उसके लिये पैसा चाहिये। इसीलिये बड़े पूँजीपतियों ने छोटे व्यापारियों या उद्योगपतियों को पुंज उत्पादन (Mass-production) के क्षेत्र में बड़ी आसानी से परास्त कर दिया; क्योंकि इन छोटे लोगों में नये साधनों और नयी मशीनों को खरीने की ताकत न थी। नतीजा यह होता है कि आगे चलकर पण्य या पदार्थ-उत्पादन चन्द बड़े-बड़े साहसी पूँजीपतियों के हाथों तक ही सीमित रह जाता है, और इसीसे आगे चलकर एकाधिकार को प्रोत्साहन मिलता है। एकाधिकार ऐसे पूँजीपतियों के उस पारस्परिक समझौते का नाम है जिनके हाथ में पण्य-उत्पादन का अधिकांश काम

जाकर केन्द्रित हो जाता है। इससे उत्पादन पर अधिकार करके पूँजीपतियों को मनमाने ढंग से कीमतों को नचाने का मौका मिल जाता है। इस प्रकार ये संगठित उद्योगपति अनाप-शनाप मुनाफा कमाते हैं। कुछ अरसे के बाद प्रत्येक पूँजीवादी देश के उत्पादन एक दिन चुने हुए बड़े-बड़े पूँजी-पतियों के अधिकार में जाकर कैद हो जाते हैं। हिन्दुस्तान के टाटा, बिड़ला ऐसे ही नमूने हैं। जीवन की अधिकांश जरूरी चीजें टाटा की फैक्टरियों में तैयार होती हैं। तेल और साबुन तक पर अब तो टाटा की मुहर लग गयी है। ऐसे पूँजीपतियों के नीचे इतने मजदूर काम करते हैं जितनी कि छोटे देशों की आबादी होती है। ये महारथी मिलकर फिर संयुक्त स्कन्ध (Joint Stock Companies), अभिषद् (Syndicate), चेम्बर या ट्रस्टों की स्थापना करके अपने स्वार्थों को हमेशा के लिये सुरक्षित कर लेते हैं।

संयुक्त-स्कन्ध-मण्डल (Joint stock Companies) शुरू होने से पूँजी-उत्पादन (मॉस प्रोडक्शन) को और अधिक प्रोत्साहन मिला। पूँजीवाद के आरम्भिक दिनों में उद्योग-धन्धे प्रायः एक व्यक्ति के ही हुआ करते थे और इनसे प्राप्त लाभ एक ही व्यक्ति को मिलता था। बाद में ज्वाइन्ट कम्पनियों के खुलने से बहुत-से लोग मिलकर पूँजी लगाने लगे। अपनी लागत की औसत से प्रत्येक भागीदार को इस संयुक्त लाभ का हिस्सा मिलता है। ऐसे स्कन्धों में मतदान की

संख्या हिस्सों की संख्या पर निर्भर करती है; इसलिये प्रायः कम हिस्सेवाले पूँजीपतियों का कुल संगठन के संचालन में कोई हाथ नहीं रहता। ये स्कन्ध (कम्पनियाँ) आगे चलकर अलग-अलग उत्पादनों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं। चूँकि ऐसे पूँजी-उत्पादनों के लिये हमेशा बड़ी पूँजी की जरूरत पड़ती है, इससे एकाधिकारवादी संगठनों को प्रोत्साहन मिलता है। एक क्षेत्र का एकाधिकार (मॉनोपली) दूसरे क्षेत्र में एकाधिकार की नींव डालता है। उदाहरण के लिये अगर कोयले के उद्योग पर एकाधिकार होता है, तो कोयले की ऊँची कीमतें लोहा और इस्पात के उद्योग में भी एकाधिकार को चालू कर देंगी। इस प्रकार एक के बाद दूसरे क्षेत्र में एकाधिकार प्रवेश करता चला जाता है। यहाँ तक कि एक दिन सारे उद्योग-धन्धे एकाधिकार के शिकंजे में जकड़ जाते हैं।

थोड़ी देर के लिये संयुक्त राष्ट्र का ही उदाहरण लीजिये। कुछ वर्षों के भीतर वहाँ के सारे उद्योग-धन्धों का आकार बहुत बढ़ गया है। सम्मिलित और साझेदारी की इस हवा ने पूँजी के बड़े-बड़े अड्डे कायम कर दिये हैं और ये अड्डे ही राष्ट्र के सारे व्यवसाय को चलाते हैं।

बड़े-बड़े धन्धों ने किस तरह छोटी पूँजी को खत्म करके अपना पेट बढ़ाकर लिमिटेड कारखानों को जन्म

दिया है इसका पता नीचे के आँकड़ों से लगता है :—

लागत पूँजी	कुल मजदूरों का प्रतिशत	कुल उत्पादन मूल्य का प्रतिशत
५००० से २०००० तक	१.६	१·०
२०००० से १००००० तक	७·६	५·२
१००००० से ५००००० तक	२०·०	१५·३
५००००० से १०००००० तक	१३·५	११·०
१०००००० से ऊपर	५६·८	६७·६

यह साफ जाहिर होता है कि अमेरिका के कुछ ही उद्योग-धन्धों में ५६·८ फी सदी मजदूरों की कुल संख्या का भाग काम करता था और इनके द्वारा कुल उत्पादन का ६७·६ प्रतिशत माल तैयार किया जाता था। इससे यह प्रकट होता है कि प्रत्येक राष्ट्र के आर्थिक जीवन में आज बड़े औद्योगिक संगठनों का कितना बड़ा हाथ है। ये आँकड़े अमेरिका में बड़े उद्योगों की तेज रफ्तार और उनके द्वारा हड़प किये गये लाभ और उत्पादन के सूचक हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि उत्पादन में एकाधिकार ने अपनी जड़ खूब अच्छी तरह जमा ली।

यहाँ इसके कुछ आँकड़े देना ही ठीक रहेगा। वर्तमान सदी के आरम्भ में अमेरिका की तेल कम्पनियों द्वारा कुल तैल-उत्पादन का ६५% तेल निकाला जाता था। सन १६२२ में इससे ५% का लाभ होता था और यही ५% अब ४२% तक

पहुँच गया है। रसायान ट्रस्ट के हाथ में रसायन व्यवसाय का ८१% प्रतिशत आज है। सीसा-ट्रस्ट के हाथ में ८५% भाग। इसी प्रकार अमेरिका का बहुमुखी उत्पादन अधिकांश कम्पनियों और ट्रस्टों के हाथ में पहुँच चुका है।

जर्मनी और यूरोप के अन्य देशों का भी यही हाल था। हिन्दुस्तान में भी आज सम्मिलित व्यावसायिक संगठनों और ट्रस्टों की संख्या पहले से दसगुना अधिक हो गयी है। व्यक्तिगत उद्योग का स्थान लिमिटेड उद्योग-धन्धे लेते चले जा रहे हैं। सभी पूँजीवादी देशों में यही प्रवृत्ति बढ़ रही है। सर्वत्र उत्पादन अधिकाधिक एकाधिकार के चंगुल में इकट्ठा होता जाता है और इनका सारा संचालन चंद व्यक्तियों के हाथों तक ही सीमित हो रहा है। इन्हीं कारणों से लेनिन ने साम्राज्यवाद को एकाधिकारी पूँजीवाद की संज्ञा दी है। व्यक्तिगत व्यवसाय के स्थान पर एकाधिकार (मॉनोपली) का कायम होना साम्राज्यवाद का अपना मौलिक आर्थिक तत्त्व है।

इन एकाधिकारों की उत्पत्ति आर्थिक जीवन के संघर्ष को और अधिक कटु और तेज बना देती है। पहले जहाँ पूँजीपति प्रतियोगिता के लिये आपस में एक दूसरे से लड़ते थे, आज वहाँ संयुक्त पूँजीपतियों के संगठन मैदान में आते हैं। इन संगठनों और स्कंधों से बाहर रहनेवाले पूँजीपतियों के खिलाफ एकाधिकारी संयुक्त मंडल बड़ा भयंकर संघर्ष शुरू

करते हैं। इसके सिवाय एक ही संयुक्त मंडल के एकाधिकारी आपस में भी अधिकाधिक लाभ हड़पने के लिये खूब झगड़ते हैं। उपभोक्ता (Consumer) और एकाधिकारी में यह संघर्ष और भी तीव्र हो जाता है। उपभोक्ता पण्यों या वस्तुओं की बढ़ी हुई कीमतों का विरोध करता है। इसलिये पूँजीवाद् के एकाधिकारी युग में ऐसे झगड़े और संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं।

अर्थ-पूँजो(Finance Capital) पूँजीवाद के युग में बैंकों का एक नया रोल खेलने लगती हैं। एकत्रीकरण (Concentration) और केन्द्रीकरण (Centrelization) का कानून बैंकों के क्षेत्र में कुछ दूसरी ताकतों के साथ मिलकर काम करने लगता है। पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ बैंकों की संख्या तो कम होने लगती है, पर उनका प्रसार और कलेवर बढ़ने लगता है। छोटे बैंक या तो दिवालिया हो जाते हैं या उनका बड़े बैंकों के साथ विलीनीकरण हो जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि ऐसे देशों में देश का कुल कारोबार चार-पाँच बैंकों के ही हाथ में आ जाता है।

इंगलैंड के बैंकों के आँकड़े इस बात की पुष्टि करते हैं:—

सन्	बैंक	शाखाओं की संख्या	लागत पूँजी
१८६०	१०४	२२०३	३६८६६३००० पौ०
१९३८	१५	१०१५१	२२६८५६७००० पौ०

अपने इस अतुल धन का उपभोग करने के लिये बैंक

उद्योगों से निकट-संपर्क स्थापित करते हैं। बहुत-से बैंक स्वयं उद्योगों में अपना रुपया लगाने लगते हैं। इस प्रकार बैंक और उद्योग दोनों एक में मिल जाते हैं। इस तरह बैंकों की पूँजी का औद्योगिक पूँजी के साथ विलीनीकरण अर्थ-पूँजी (Finance Capital) कहलाता है। बैंक-कृत पूँजी का औद्योगिक एकाधिकार के साथ गठ-बंधन साम्राज्य-वाद की एक विशेषता है। यही कारण है जिससे लेनिन ने साम्राज्यवाद को अर्थकृत पूँजी का युग माना है।

पूँजी का निर्यात

पूँजीवादी विकास के प्रथम चरण में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में बढ़े हुए देश पण्य या वस्तुओं को बाहर भेजते हैं। लेकिन इसके साम्राज्यवादी चरण में पूँजी का निर्यात प्रधान स्थान रखता है। साम्राज्यवाद की विशेषता है स्वयं एकाधिकार का शासन खड़ा करना। चूँकि एकाधिकारी उद्योगों को किसी प्रतिद्वन्द्वी का डर नहीं रहता ; इसलिये मनमाने ढंग से वे पण्यों की कीमतें वे ऊपर उठाते चले जाते हैं जिससे कि उन्हें अधिक-से-अधिक लाभ मिल सके। एक ओर कीमतें बढ़ाकर ये पूँजीवादी श्रमिक की क्रयशक्ति को कम कर देते हैं। इसलिये तैयार माल की खपत देश में असम्भव हो जाती है। जब देश तैयार माल को हजम नहीं कर सकता, तो पिछड़े देशों में बाजार खोजने की पागल-दौड़ शुरू

होती है। यही वह कारण है जो अँगरेजों को हिन्दुस्तान, चीन और दुनिया के दूसरे देशों को ले गया। इन देशों की स्थानीय दस्तकारी को नष्ट करके यहाँ विदेशी माल को खपाने की उचित-अनुचित कोशिशें होती हैं। (हाथ की कताई-बुनाई पढ़िये) परन्तु इसमें डर यह रहता है कि कहीं उपनिवेश या दूसरे देश आयात प्रतिबन्धों द्वारा माल का अपने देश में आना रोक न दें; इसलिये पूँजी की सुरक्षा और स्थायित्व के ख्याल से पूँजीवादी देश इन उपनिवेशों या देशों में जाकर ही अपनी पूँजी को उद्योग-धन्धों में लगाते हैं। सरकारों को रुपया कर्ज पर देते हैं। यह वह रास्ता है जिसके जरिये उन्नत पूँजीवाद राष्ट्र पिछड़े देशों में अपनी पूँजी को बिखेरने का जाल फैलाते हैं। चीन और हिन्दुस्तान में स्थित विदेशी कल-कारखानों की यही कहानी है। एक बड़ा असर इसका यह होता है कि पूँजी को बाहर भेजनेवाला देश पूँजी लेनेवाले देश की आर्थिक व्यवस्था पर हावी हो जाता है। इसके बाद धीरे-धीरे अपनी निर्यात-पूँजी की रक्षा के लिये बनिया राष्ट्र कर्जदार देश को राजनीतिक दृष्टि से भी अपने अधीन कर लेता है। कर्जदार देश पहले का या तो उपनिवेश हो जाता है या अधीन। यही सबब है कि पूँजीवादी युग में बहुत-से देश साम्राज्यवादी बन गये या बनते जा रहे हैं और ये देश अपने से पिछड़े हुए देशों का राजनीतिक और आर्थिक शोषण करते हैं।

दुनिया का व्यावसायिक बँटवारा

अभी ऊपर बताया जा चुका है कि पूँजीवाद के साम्राज्यवादी चरण में एकाधिकारी संगठन आर्थिक जीवन पर नियंत्रण रखता है। इसलिये प्रत्येक उन्नत और पूँजीवादी देश को एक ऐसे बाजार की जरूरत पड़ती है जहाँ से वह कच्चा माल, कम कीमत में खरीद सके। तैयार माल को तेज से तेज बेच सके और अतिरिक्त पूँजी को उसी देश में जाकर वहाँ के उद्योग-धन्धों में लगा सके। ऐसे बाजारों के लिये इन एकाधिकारियों की जोरदार लड़ाई शुरू होती है। इस लड़ाई में इन्हें अपनी पूँजीवादी साम्राज्यवादी सरकार से पूरी सहायता मिलती है। यह संघर्ष कभी अति भयंकर और विनाशक रूप धारण कर लेता है। अतः ऐसी अवस्था में एकाधिकारी गुट कभी-कभी समझौते के द्वारा दुनिया के बाजारों को आपस में बाँट लेते हैं। प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी को दुनिया का एक बाजार दे दिया जाता है। वहाँ से दूसरे प्रतियोगी अपने आप हट जाते हैं। लेकिन इस अन्तर्राष्ट्रीय बँटवारे से संघर्ष खत्म नहीं होता। बँटवारे के बाद भी संबंधित देश में शक्ति और सत्ता में प्रत्येक पक्ष को कुछ-न-कुछ भाग मिलता ही है। इस आपेक्षिक शक्ति का परिवर्तन फिर बाजार के पुनः बाँट का कारण बन जाता है। हर बार यह बँटवारा संघर्ष को और अधिक खूँखार

बनाता चला जाता है। संकटकाल में जब दुनिया के बाजार डूबने लगते हैं तब पहले के सब समझौते खत्म हो जाते हैं और यह समझौतेवाले देश ही एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध में खड़े होते हैं।

दुनिया का प्रादेशिक बँटवारा

प्रत्येक प्रगतिशील उद्योगी देश को ऐसे पिछड़े देशों की जरूरत होती है जहाँ से वह कच्चा माल खरीद सके, तैयार माल बेच सके और पूँजी लगा सके। इसलिये अधिक से अधिक प्रदेशों को अपने कब्जे में लाने की होड़ लगती है। उपनिवेशों के लिये लड़ाई होती है और सारी दुनिया साम्राज्य-वादी शक्तियों के गुटों में बँट जाती है। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका आदि के प्रभावक्षेत्र इन्हीं गुट-बन्दियों के नतीजे हैं। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण पिछड़े देशों के पल्ले पड़ता है। हिन्दुस्तान, अफ्रिका, चीन, हिन्द चीन और वेस्ट इन्डीज आदि देशों के इतिहास इसी करुण शोषण की कहानी के रंगमंच रहे हैं।

साम्राज्यवादी-युद्ध

लेकिन सभी देशों में आर्थिक प्रगति की चाल एक-सी नहीं रहती। इसीलिये पूँजीवाद का प्रसार और प्रचार भी असमान ही होता है। इसका फल यह होता है कि पूँजीवाद की भद्दी और भयानक असमानता सामने आ जाती

है। इसीलिये बहुत-से देशों की आर्थिक ताकत हमेशा बदलती रहती । कुछ वर्ष पूर्व व्यापारिक जगत् में इंगलैंड दुनिया का सिरमौर था। फ्रांस का दूसरा स्थान था। लेकिन १९वीं सदी के खत्म होते-होते जर्मनी की तेज रफ्तार शुरू हुई और थोड़े ही वर्षों में दुनिया का बाजार 'जर्मन-मेड' वस्तुओं से पट गया। इंगलैंड और फ्रांस उद्योग की दौड़ में बहुत पीछे रह गये। इसके बाद २०वीं सदी ने कुछ नई ताकतों को हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया। अमेरिका, जापान और इटली थोड़े ही दिनों में दुनिया के बाजार पर छा गये और आखिर में इनमें आपस में ही प्रतियोगिता शुरू हो गयी। यह प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती गयी। दुनिया के बाजारों के बँट जाने के बाद भी वह खत्म न हुई। जब हालत बहुत भयानक हो गयी, तो क्षेत्रों के पुनः वितरण के लिये खूँख्वार झगड़े चलने लगे। इन्हीं झगड़ों ने आखिर में साम्राज्यवादियों के 'महायुद्धों' का रूप लिया। जर्मनी ने दुनिया को फिर से बाँटने का प्रयत्न किया और इसी प्रयत्न का विकराल स्वरूप प्रथम महायुद्ध में (१९१४-१८) जाकर खत्म हुआ। इस युद्ध में १ करोड़ आदमी मारे गये थे; २ करोड़ ४० लाख घायल हुए थे और अरबों रुपया खर्च हुआ था। इस बलिदान का नतीजा यह हुआ कि जर्मनी के हाथ के पुराने उपनिवेश भी छिन गये।

इस महायुद्ध के बाद भी पूँजीवाद मरा नहीं था। उसका

प्रचार अभी भी बढ़ रहा था ; इसलिये अधिकृत देशों की आवश्यकता आज भी ज्यों की त्यों त्यों कायम थी। अतः एक बार इटली और जर्मनी के लोभ ने फिर भयंकर रूप धारण किया। अबीसीनिया इटली के पेट में समा गया और सारी दुनिया को दोनों ने अपने बीच बाँटने की गुटबंदी शुरू की। इसी लोभ और गुटबन्दी के भीतर से द्वितीय महायुद्ध (१६३६-४५) का जन्म हुआ। जापान को भी अपने माल के लिये बाजारों की जरूरत थी ; इसलिये वह भी बाद में जर्मनी के साथ हो गया। इस युद्ध में जो धन और जन की हानि हुई, उसने प्रथम महायुद्ध को एक बच्चों का खेल साबित कर दिया।

पूँजीवाद की आखिरी साँस

साम्राज्यवादी युग में पूँजीवाद का खात्मा और बरबादी शुरू हो जाती है। एकाधिकार का शासन आर्थिक जीवन में सड़ान पैदा कर देता है। ऊँची कीमतों पर तैयार माल के लिये नये बाजारों को पाने की कठिनाई, नये और विकसित साधनों के आविष्कार को रोक देती है। अधिक अच्छी कपास और गेहूँ की फसल तयार करने के क्या मानी हैं जब कि कपास और गेहूँ की लाखों एकड़ जमीन यों ही परती पड़ी रहे? उत्पादन के अधिक विकसित साधनों को काम में लाने के क्या मतलब हैं जब कि अधिकांश साधन निष्क्रिय और बेकार पड़े रहें? यह सब तब सम्भव है जब युद्ध छिड़े। और तब नये बाजार की

जरूरत ही न रहे। क्योंकि तब सारे साधनों को युद्ध-सामग्री तैयार करने में लगाया जा सकता है। लेकिन जैसे ही आर्थिक रचना की मशीन को उपभोक्ताओं की आवश्यकता की वस्तुओं को तैयार करने में लगाया जाता है, एकाधिकारी इसका गला घोंटकर आगे की प्रगति को रोक देते हैं। नये साधनों के प्रयोग में आने से उनके स्थित कारखानों को धक्का न पहुँचे, इसलिये नये वैज्ञानिक आविष्कारों को भी वे सामने नहीं आने देते। कभी-कभी आविष्कर्ता को कुछ रकम देकर उसे प्रकाश में आने से ही रोक दिया जाता है। इसलिये राष्ट्र की अधिक वैज्ञानिक और आर्थिक उन्नति के लिये एकाधिकार के प्रभाव को खत्म करना पहला काम है।

साम्राज्यवादी युग में धनिक-वर्ग बिल्कुल बेकाम हो जाता है; क्योंकि इस युग के धनिकों का उत्पादन की क्रिया पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। कल-कारखाने तो वैतनिक व्यक्तियों द्वारा संचालित होते हैं, लाखों श्रमिकों द्वारा उत्पन्न उत्पादनों का उपभोग केवल धनिक-वर्ग ही करता है। और इसके बदले में यह वर्ग समाज की सेवा बिल्कुल नहीं करता।

इसलिये साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की आखिरी साँस मान सकते हैं। इस युग में पूँजीवाद के विरोधी तत्त्व उग्र रूप धारण कर लेते हैं। प्रत्येक पूँजीवादी देश में मजदूर-मालिक का कटु संघर्ष शुरू हो जाता है। नतीजा यह होता है कि

बड़े-बड़े पूँजीपति अपनी सारी ताकत लगाकर बड़ी निर्दयता से मजदूरों के इन आन्दोलनों को कुचल देते हैं। जन-संख्या का अधिकांश इनके शोषण का शिकार बना रहता है। दूसरी ओर यह ढाँचा बरकरार रहे, इसके लिये कुछ सालों के अन्तर से करोड़ों नरबलियाँ इसपर भेंट कर दी जाती हैं। और आखिर में एक मजबूत, लोक-व्यापी क्रान्तिकारी संघर्ष मजदूरों की ओर से शुरू हो जाता है। और उसी समय स्वयं एकाधिकारी गुटों और साम्राज्यवादी ताकतों में आपस में भी खूब खटकने लगती है। इससे रक्तपात और विश्व-युद्ध अनिवार्य हो जाता है। दुनिया के बहुत-से सभ्य कहलाने-वाले देशों का दुनिया के उपनिवेशों के असंख्य लोगों के साथ कलह बढ़ने लगता है। चीन, हिन्दुस्तान, हिन्दचीन, जावा सभ्य देशों की इसी दूषित इच्छा के क्रीड़ाक्षेत्र रहे हैं। इन देशों का अपरिमित शोषण आजादी और स्वाधीनता के आन्दोलन का श्रीगणेश करता है। श्रमिकों के संगठन इन आन्दोलनों को हमेशा नई ताकत देते हैं। हमारे देश का राष्ट्रीय आन्दोलन इस बात का सबूत है। स्वाधीनता के संग्राम में मजदूर और किसानों का बड़ा हाथ रहा है। इन सब कारणों का इकट्ठा होना 'पूँजीवाद' की आखिरी घड़ी की सूचना देता है। ये पूँजीवादी विरोधी तत्त्व इतने उग्र और शक्तिशाली हो जाते हैं कि पूँजीवादी प्रथा का आगे चलना असम्भव हो जाता है। विकास की सारी सम्भावनाएँ

कठिन हो जाती हैं, पूँजीवाद छिन्न-भिन्न होने होने लगता है और सदियों का महल देखते-देखते मिट्टी में मिल जाता है। प्रथम महायुद्ध ने दुनिया के $\frac{१}{६}$ भाग में पूँजीवाद का हमेशा के लिये खातमा कर दिया। पूँजीवाद की इस राख के ऊपर से ही नवीन सोवियत-यूनियन का प्रादुर्भाव हुआ। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति से भी बहुत-से देशों में 'पूँजीवाद' की कब्र खुदने लगी है। इंगलैंड में मजदूर सरकार का अधिकारारूढ़ होना, यूरोप के दूसरे देशों में समाजवादी सरकारों का सामने आना और हिन्दुस्तान से विदेशी ताकत का हटना विश्वव्यापी समाजवादी प्रतिष्ठा की पूर्व सूचनाएँ हैं। अपने दोषों और कमियों से यह व्यवस्था अब अधिक नहीं टिक सकती। देर या सबेर उसे आज के समाज से हटकर एक नवीन, श्रेष्ठ सामाजिक व्यवस्था—'समाजवाद' के लिये स्थान खाली करना है। बिना समाजवाद की स्थापना के न तो मानवता की रक्षा हो सकती है और न जग की विकराल लपटों से हरी-भरी दुनिया को बचाया जा सकता है। इस महाविनाश, महाशोषण और महारोग का एक ही इलाज है—एक ही उपचार है—आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में समानता।

उपसंहार

१०

पूँजीवाद को सब पहलुओं से देखने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि क्या पूँजीवाद मानव-सुख और संतोष के स्थायित्व की कसौटी पर खरा उतरता है? क्या यह ऐसी अवस्था और हालत ला सकता है, जो मानव-जाति के सम्यक् विकास और उन्नति के लिये आवश्यक है?

इन दोनों प्रश्नों का उत्तर हमे 'नकार' में मिलता है। तब फिर सवाल उठता है कि आखिर वह कौन-सी सामाजिक व्यवस्था है, जो संपूर्ण मानव के सामूहिक हित और विकास का स्थाई कारण बन सकती है? इस दूसरे प्रश्न के उत्तर का क्षेत्र यह पुस्तक नहीं है। अतः इसका उत्तर आप अन्यत्र पायेंगे। हमारी इस पुस्तक का उद्देश्य एकमात्र वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति का विश्लेषण और परीक्षण है। यह पुस्तक हमारी बुराइयों का निदान-मात्र है। इससे आगे कुछ नहीं। प्रायः कुछ लोग कहा करते हैं कि 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' और पूँजी से अलग सभ्य समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती है—यह छोटा-सा प्रबन्ध ऐसे लोगों की मान्यता के विरोध में लिखा गया है।

इस पुस्तक के पन्नों को पढ़ने के बाद यह साफ हो जाता है कि 'पूँजीवाद' न तो अनंत है और न दोषरहित ही। आज उत्पादन की सारी शक्तियाँ अपने पूर्ण विकास को पहुँच चुकी हैं; इसलिये भी इसमें अनिवार्य परिवर्तन की आवश्यकता है। आदि साम्यवादी संघ-प्रथा ने दास-प्रथा को, दास प्रथा ने सामंतवाद को और सामंतवाद ने वर्तमान पूँजीवाद को जन्म दिया है। अतः पूँजीवाद के स्थान पर अति विकसित और उन्नत एक नई सामाजिक व्यवस्था, 'समाजवाद' की आवश्यकता है और मौजूदा सारी बुराइयों का एकमात्र उत्तर 'जनतंत्रात्मक समाजवाद' ही है।

निस्संदेह सामंतवाद से उच्चतर अवस्था का नाम 'पूँजीवाद' है; परन्तु यह आर्थिक व्यवस्था न तो आदर्श व्यवस्था कभी थी और न रहेगी। क्योंकि पूँजीवाद में उत्पादन एकदम अव्यवस्थित और उच्छृङ्खल रहता है। श्रमिकवर्ग का भयानक शोषण होता है। पूँजीपतियों के अपार धन, लोभ और तृष्णा की कोई सीमा नहीं रहती। कुछ लोग धनपति बनकर शेष जनता को अभाव और गरीबी के अतल गड्ढे में ढकेल देते हैं। इससे समाज के दो वर्गों के बीच द्वेष और घृणा की गहरी खाँई खुद जाती है। इस खाँई के कायम रहते समाज में कभी भी शांति संभव नहीं हो सकती। उत्पादन का गलत संचालन होता है। कुछ लोगों के लिये वैभव का सामान तैयार किया जाता है, जब कि शेष लोग महज

अपनी आवश्यकताओं को भी प्राप्त नहीं कर सकते। असमानता और आर्थिक विषमता प्राप्त उत्पादक साधनों का पूरा-पूरा इस्तेमाल कठिन कर देती है। तैयार माल को नष्ट किया जाता है जब कि इन्हीं वस्तुओं के लिये करोड़ों लोग तड़पते रहते हैं। लाखों आदमी बेकार हो जाते हैं। ईमानदारी के साथ कमा-खाकर जीना दुर्लभ हो जाता है। बहुत-से लोगों को बड़ी दर्दनाक हालत से गुजरना पड़ता है। बहुत से आदमी हमेशा भुखमरी और कंगाली के शिकार होते रहते हैं। उत्पादन की ताकतें तो खूब बढ़ जाती हैं; पर जनता की क्रय-शक्ति एकदम नीचे गिर जाती है। नतीजा यह होता है कि सारी आर्थिक मशीन ठप हो जाती है। गति नहीं रहती। कुछ वर्षों के बाद हमेशा आर्थिक संकट आते रहते हैं। इन संकटों से आर्थिक गड़बड़ी मच जाती है। समाज का ढाँचा चर्रा उठता है और तब 'महायुद्ध' की भूमिका तैयार होती है। पूँजीवाद के विरोधी तत्त्व और बेहूदिगियाँ उग्र रूप धारण कर लेती हैं। देश की आर्थिक प्रगति रुक जाती है। संकट के भार से सारे उद्योग-धन्धे वर्षों पीछे फेंक दिये जाते हैं। और तब उद्धार और उबार की एक ही आशा रह जाती है—महायुद्ध और लड़ाई। लाखों आदमियों की जिन्दगी घोर निराशा और अनिश्चितता के काले बादलों से ढँक जाती है।

इस तरह जब बुराइयाँ और प्रतिकूलताएँ हद से ज्यादा बढ़ जाती हैं, तो दूसरी सामाजिक रचनाओं के समान

पूँजीवाद का महल भी ढह जाता है। साम्राज्यवाद पूँजीवाद की वृद्धावस्था का सूचक है। इसमें स्थिरता और बरबादी चारों ओर नजर आने लगती हैं। उत्पादक और उत्पादन में कोई मेल नहीं रहता। विरोध और असंतोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं और प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादी ताकतें अपने अलग-अलग गुट बनाने लगती हैं। इससे इसकी जड़ें और खोखली होने लगती हैं। एक देश के बाद दूसरे देश में पूँजीवाद अपने औरस पुत्र साम्राज्यवाद के साथ खत्म होने लगता है। प्रथम युद्ध ने रूस में इसे खत्म होते देखा। यूरोप का 'फासिस्तवाद' पूँजावाद की रक्षा का अन्तिम प्रयत्न था। हिटलर की पराजय यूरोप में पूँजीवाद की पराजय थी और इसी प्रकार जापान की पराजय पूर्व में साम्राज्यवाद की मौत का कारण होगी। इसके बाद कुछ दिनों तक पूँजीवादी ताकतें अपने बचाव की लड़ाई लड़ती रहेंगी और इसके बाद वह वक्त ज्यादा दूर नहीं, जब सारी दुनिया का 'समाजवादी' प्रथा के आधार पर नवीन संगठन और निर्माण होगा।

समाजवाद के स्थाई तौर पर कायम होने के बाद ही समाजोन्नति के विरोधी तत्त्व खत्म हो सकेंगे। प्रतियोगिता सहयोग में बदल जायगी। उत्पादन का मनमाना तरीका पूर्व निश्चित योजना की शकल ले लेगा। मेहनत का शोषण बन्द हो जायगा। करोड़ों शोषित मजदूरों के खून पर चन्द

करोड़पतियों के विलास-भवन नहीं बनेंगे। प्रधानता के आधार पर मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने की कोशिश की जायगी। उत्पादन के सारे साधनों को उपयोग में लाया जायगा। उत्पादन और क्रयशक्ति में समानता लाई जायगी जिससे महायुद्ध और रक्तपात का काला साया फिर हमारे नव शिशुओं पर न पड़े। जार के रूस के बाद का सोवियत रूस हमारी इस कल्पना का साकार रूप है। जिस दिन सारी दुनिया समाजवादी सिद्धान्तों को अपना लेगी, उस दिन सम्यक् विकास के लिये रास्ता खुल जायगा। उस दिन हमारा समस्त मानव-जगत को सभ्य और सुखी देखने का स्वप्न पूरा होगा। समाजवाद ही उन हालतों और अवसरों को पैदा कर सकता है जिनके भीतर से कला और उद्योग की प्रतिभा से पूर्ण व्यक्ति और समाज के आदर्शों से युक्त श्रेष्ठतम 'मानव' का जन्म हो।

आकुल प्रतीक्षा करें !   छप रही है !

लेखक की दूसरी पुस्तक

समाजवाद की रेखाएँ

(संक्षिप्त परिचय)

सर्वसाधारण के समझ सकने लायक सरल और आसान भाषा में यह पुस्तक 'समाजवाद' के संक्षिप्त परिचय के रूप में लिखी गयी है।

(१) लेखक ने 'मार्क्सवाद' को एक पूर्ण दर्शन मानकर उसके 'निदान' और 'उपचार' दो भाग किये हैं। वर्तमान समाज की बुराइयों का मूल कारण पूँजीवाद है। यह पूँजीवाद ही वर्तमान रोग का 'निदान' है। समाज को वर्तमान बुराइयों से मुक्त करने की एक ही दवा है और यह दवा या उपचार है 'समाजवाद'।

(२) सर्वप्रथम आज की समाज-रचना पर रोशनी डालते हुए लेखक ने पूँजीवाद के विकास और उसके मूल तत्त्वों का विश्लेषण किया है।

(३) इसमें 'समाजवाद' को केवल पश्चिमी रूप में ही न देकर हिन्दुस्तान की समाजवादी पार्टी ने उसके मौलिक रूप में जो वृद्धि

और विकास किया है, उसपर भी प्रकाश डाला गया है। नासिक-कन्वेंशन के बाद पार्टी ने 'समाजवाद' में एक नये तत्त्व का समावेश किया है—'साध्य और साधन' की एकरूपता। इस तत्त्व ने देश में जिस प्रकार के समाजवाद की हम रचना करना चाहते हैं, उसका बहुत दूर तक भारतीकरण कर दिया है। इन सब बातों का पुस्तक में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

(४) संक्षेप में पुस्तक में अध्याय हैं—(१) हमारा आज का समाज (२) मार्क्सवाद क्या ? (३) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (४) इतिहास की आर्थिक व्याख्या (५) वर्गसंघर्ष (६) पूँजी-वाद की भूमिका (७) पैसा और पूँजी (८) समाजवाद की सीमाएँ (९) समाजवाद का भारतीकरण (१०) नासिक के बाद (११) आगे कैसे ? (१२) उपसंहार।

यह पुस्तक 'पूँजीवाद की पोल' का एक प्रकार से पूरक है।

मुद्रक—देवकुमार मिश्र, हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना